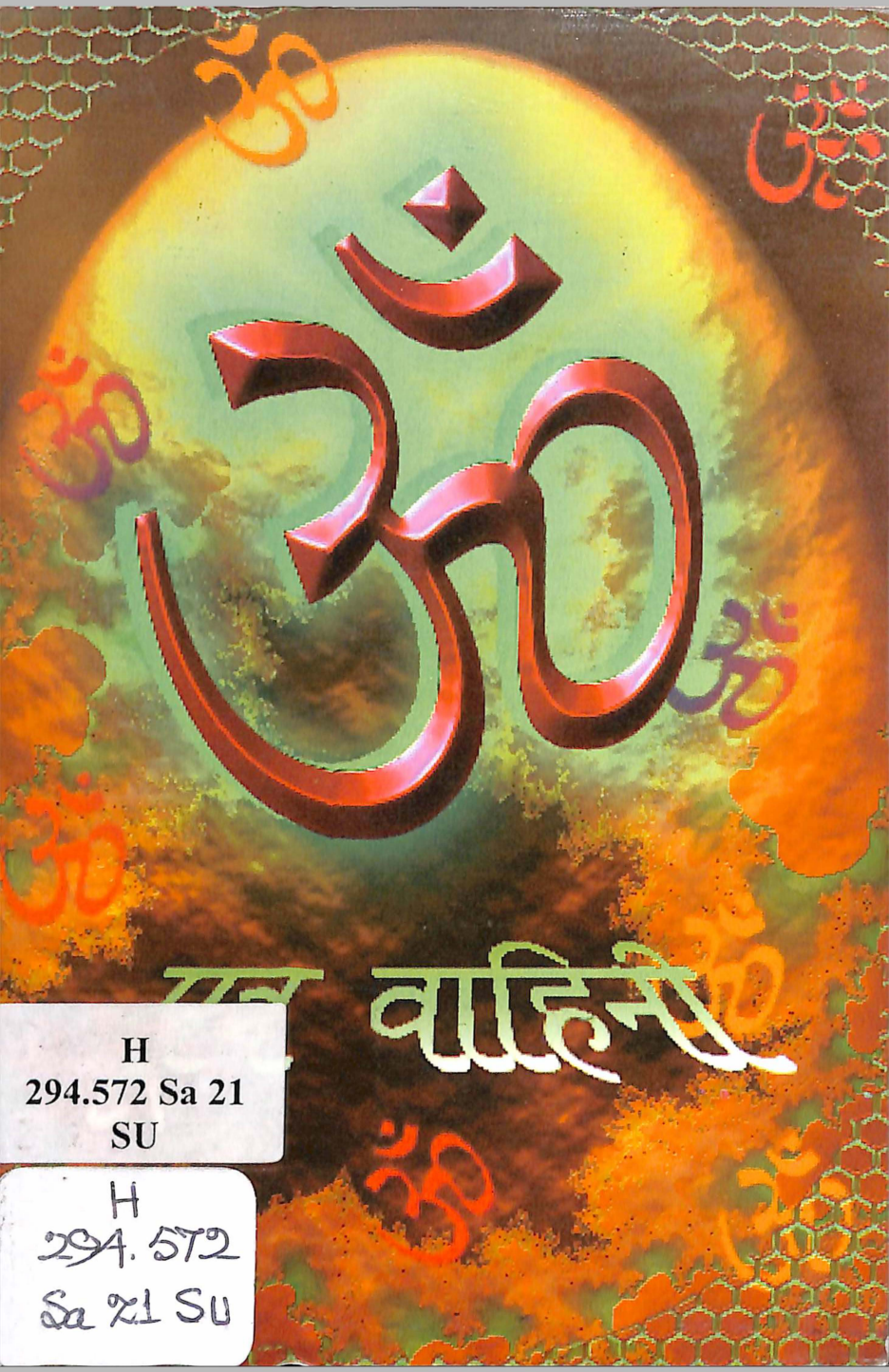

H
294.572 Sa 21
SU

H
294.572
Sa 21 Su

सूत्र वाहिनी

भगवान श्री सत्य साई बाबा

प्रकाशक : श्री सत्य साई बुक्स एण्ड पब्लिकेशन्स ट्रस्ट (दिल्ली)
ब्लाक 'ए' कालकाजी ऐक्सटैंशन एरिया, नई दिल्ली - 110019

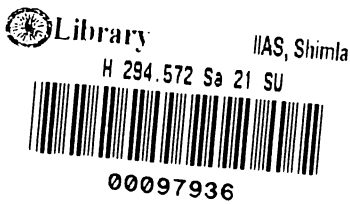

मूल्य : 10.75 पैसे

मुद्रक : कंवल किशोर एण्ड कम्पनी, 18/2826, बीड़नपुरा,
करोल बाग, नई दिल्ली - 110005 फोन : 5724370

प्राक्कथन

सूत्र अल्प शब्दों में अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं। ब्रह्म सूत्र वेदान्त का विज्ञान हैं। उच्चारण करने पर उनसे मधुरता प्रकट होती है।

सामंजस्य आज समय की आवश्यकता है। संसार को आध्यात्मिक जागृति की आवश्यकता है। वेदान्ती इस बात को समझते हैं। वैदिक ग्रंथ मार्गदर्शन करते हैं। वे ज्ञान को प्रकाशित करते हैं।

मनुष्य की दृष्टि विकृत (कु-दर्शन) है। वह सत् और असत् में अन्तर नहीं कर पाता। सु-दर्शन से उसे प्रकृति में पुरुष को पहचानने का विवेक उत्पन्न होता है। यही मोक्ष है। विराट चैतन्य की अनुभूति ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

सूत्र वाहिनी में भगवान श्री सत्य साई बाबा ने आत्म (ब्रह्म) विद्या का दीप प्रज्ज्वलित किया है। अपने असीम प्रेम सहित भगवान ने ब्रह्म सूत्र का रहस्य बताया है। भगवान के शब्दों की थाह पाना मानवीय क्षमता के परे है।

प्रस्तुत पुस्तक अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी भाषी पाठकों हेतु किया गया अनुवाद है। हमें आशा है कि अविद्या और माया के अंधकार में भटकते मानव का मार्गदर्शन कर यह पुस्तक जीवन के रहस्यों पर चिंतन हेतु प्रेरक सिद्ध होगी।

— प्रकाशक

विषय सूची

ज्ञान—सरिता	५
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	९
जन्माद्यस्य यतः	१९
शास्त्र योनित्वात्	२८
तत् तु समन्वयात्	३२
ईक्षतेर ना शब्दम्	३६
गौणश्चेत्-न-आत्मशब्दात्	३९
हेयत्व—अवचनाच्च	४३
स्वाप्ययात्	४६
श्रुतत्वात् च	४९
ज्योतिश्चरणाभिधानात्	५३
प्राणस्तथानुगमात्	५५
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	५८

ज्ञान–सरिता

समस्त शास्त्र अपना मूल्य और प्रामाणिकता अपने स्रोत–वेदों से ग्रहण करते हैं। वे वेदों में परिभाषित सिद्धान्तों व प्रयोजनों के अनुसार नियम और रीतिओं का प्रतिपादन करते हैं। अच्छाई और बुराई में अन्तर जानने के लिये शास्त्रों का अनुशीलन आवश्यक है।

वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् उनकी रचना मनुष्य द्वारा नहीं हुई है। वेद स्वयं ईश्वर से प्रकट हुए हैं तथा ईश्वरीय वाणी से तादात्म्य स्थापित करने वाले ऋषियों द्वारा 'श्रवण' किए गये। ऋषियों ने अपने शिष्यों को उस वाणी से अवगत कराया और फिर उन शिष्यों ने उन्हें अपने शिष्यों को सुनाया। वेदों तथा उनमें निहित ज्ञान के आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी होती हुई आज हमारे समय तक चली आई है।

उपनिषद् वेदों के हृदय हैं, उनका सारतत्व हैं। ब्रह्म सूत्र और भगवद् गीता में उपनिषदों की शिक्षा का सार है। इन तीनों ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी कहा गया है। इन्हें गुरु से सुन कर सीखा गया अतः इन्हें तथा वेदों को श्रुति कहा जाता है।

परम ज्ञान की प्राप्ति ही मानव जीवन के मुख्य लक्ष्य को साकार कर सकती है। इस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अनुभव करता है कि वह जड़ निष्क्रिय देह इत्यादि नहीं है वरन् सत्-चित्-आनन्द का मूर्तरूप स्वयं चैतन्य है। जब यह सत्य प्रकट होता है और उसका अनुभव होता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। शेष जीवन पर्यंत वह अज्ञान के कोहरे से मुक्ति पा जाता है। वह जीवन मुक्त हो जाता है।

कैवल्योपनिषद में कहा गया है:

"न कर्मणा, न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्वमानशु:"

कर्म, मानवीय बल या धन सम्पत्ति से नहीं अपितु केवल त्याग द्वारा ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है। कर्म से तात्पर्य यज्ञ कर्मो, व्रत, दान, पुण्य कार्यों हेतु सहायता, तीर्थयात्रा, पवित्र नदियों व समुद्र में स्नान आदि से है। इन कर्मों से कोई मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् अज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकती। "न प्रजया" अर्थात् सत्ता व अधिकार प्राप्त करके, बुद्धि कौशल द्वारा प्रसिद्धि व प्रतिष्ठा से युक्त व्यक्तित्व पाकर, स्वास्थ्य, सुख व अनेक सन्तानों के विशाल परिवार से सम्पन्न होकर भी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता।

"न धनेन": उपरोक्त कर्मों व गतिविधियों तथा उपलब्धियों से सफलता तभी संभव है जब मनुष्य के पास धन हो। धन न होने पर मनुष्य दान आदि कर्म नहीं कर सकता और सत्ता अधिकार इत्यादि भी नहीं पा सकता। किन्तु उपनिषद् के अनुसार ज्ञान का सम्बन्ध धन से नहीं है। केवल ज्ञान ही मोक्ष तक पहुँचा सकता है। धन से मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। मोक्ष प्राप्त करने के लिये धन साधन नहीं है।

तब वस्तुतः साधन क्या है? उत्तर है: "त्यागेन एकेन अमृतत्वम् आनशु:"। केवल त्याग ही मोक्ष अथवा अमरत्व दिलाता है। जगत् असत् है, उसका अस्तित्व नहीं है। यह जो मिथ्या भ्रान्ति है कि जगत् सत् है, उसे छोड़ना है। जगत् का विचार हमारे मन द्वारा वास्तविकता पर आच्छादित कर दिया गया है। यही जान लेना ज्ञान है। यद्यपि जगत् वास्तविक लगता है किन्तु मनुष्य को यह जानना चाहिये कि यह माया है। परिणाम स्वरूप मनुष्य को दृश्य जगत के पदार्थों से सुख प्राप्त करने की लालसा त्याग देनी चाहिये जो लोक में और परलोक में मनुष्य को मोहित करते हैं। तात्पर्य यह है कि आसक्ति और इच्छाओं का त्याग करते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। सर्वम् त्यागम्। अज्ञान तभी नष्ट हो

सकता है जब मनुष्य आत्म तत्व को जान ले। अज्ञान के नष्ट होने पर संसार के उतार-चढ़ावों से उत्पन्न शोक का भी नाश हो जाता है।

कर्मकाण्डों द्वारा अज्ञान व दुःख को नष्ट नहीं किया जा सकता, यह उपनिषदों की शिक्षा है। वस्तुतः अभी यह हो रहा है कि मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को ही भूल गया है। वह मानता है कि वह शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि है। इन्द्रियाँ विषय सुख की कामना करती हैं और मनुष्य इसे स्वयं की इच्छा मान कर इस भ्रान्ति में इंन्द्रियों की कामनाओं को पूरा करने में लग जाता है। वह स्वयं को इस भ्रान्ति में डाल लेता है कि वह शरीर व इन्द्रियों की शुश्रूषा करके आनन्द पा सकता है। वस्तुतः उसे इन प्रयासों से आनन्द नहीं मिल सकता। इसके विपरीत उसे भ्रान्ति, पराजय और यहाँ तक कि विनाश का पारितोषिक मिलता है। वह शोक की फसल काटता है न कि आनन्द की।

विषय-सुख में आसक्ति अन्त में उसे शोक प्रदान करती है। इसलिये आनन्द प्राप्त करने के लिये मनुष्य को सही साधनों की ओर अग्रसर करने की आवश्यकता है। मनुष्य आनन्द कहाँ से पा सकता है? यह बाह्य पदार्थों में नहीं है। बाह्य पदार्थों से जो सुख मिलता है, वह अपने साथ दुःख भी लेकर आता है।

ब्रह्मसूत्र, उपनिषद व भगवद् गीता— ये तीन मूल ग्रन्थ इस सत्य को स्पष्ट करते हैं कि *तुम* आनन्द के मूर्त रूप हो। ये तीनों ग्रंथ एक सिद्धान्त पर आधारित हैं जिससे मनुष्य को सर्वोच्च ज्ञान उपलब्ध करने में सहायता मिलती है।

ब्रह्म सूत्र के वाक्यों के अर्थ को समझ पाना दुष्कर कार्य है। आवश्यक योग्यता प्राप्त किए बिना कोई उनका रहस्य नहीं समझ सकता और उनमें निष्णात नहीं हो सकता।

ये आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं? शास्त्रों द्वारा चार साधनाएँ बताई गई हैं। इन चारों से युक्त हो जाने पर इन सूत्रों का अर्थ हथेली पर रखे फल के समान स्पष्ट हो जाता है। इसलिये ये चारों साधनाएँ मनुष्य को

स्वयं के सत्य को जानने हेतु प्रारम्भिक आवश्यकता के रूप में अर्जित करनी ही है।

ब्रह्म सूत्र को शारीरिक शास्त्र व वेदान्त दर्शन के नाम से भी जाना जाता है। शरीर से अर्थ है देह। शारीरिक से तात्पर्य है आत्मा के सभी अवयव अहंकार, इन्द्रियाँ इत्यादि। शास्त्र का अर्थ हैं इन सभी की प्रकृति का यथासूक्ष्म अन्वेषण। अर्थात् शास्त्र यह स्थापित करते हैं कि ब्रह्म वह आधार है जिस पर अन्य सब कुछ आधारित है और मनुष्य की वास्तविकता स्वयं आनन्द है।

अब वेदान्त दर्शन के नाम के सम्बन्ध में : दर्शन का अर्थ है देखना। दर्शन सत्य को देखने या उसकी अनुभूति करने में सहायक है। दर्शन सुविदित हैं। इन्हें दिव्य दृष्टिसम्पन्न ऋषियों ने प्रस्तुत किया। सांख्य दर्शन का प्रतिपादन कपिल ऋषि ने किया था। न्याय दर्शन का प्रतिपादन गौतम ने किया था और वैशेषिक का कणाद ने। पूर्व मीमांसा के प्रणेता जैमिनी ऋषि व उत्तर मीमांसा के प्रणेता वेदव्यास थे। इनमें से कपिल व व्यास को ऋषियों ने स्वयं विष्णु का अंशावतार माना है। वेदव्यास का ब्रह्मसूत्र वह ग्रन्थ है जिसने उत्तर मीमांसा का अनुमोदन व एकीकरण किया है।

ब्रह्मसूत्र में वैदिक सत्य का अर्थप्रतिपादन करने के लिये आपत्ति (पूर्व पक्ष) व निष्कर्ष (सिद्धान्त) विधि को अपनाया गया है। वेदान्तिक व औपनिषदिक कथनों की प्रामाणिकता व अर्थ के सम्बन्ध में सभी सम्भव सन्देहों के निवारण हेतु सूत्रों में परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों की चर्चा की जाती है। शरीर को जीवात्मा की उपाधि माना गया है। और ब्रह्म सूत्र इसके सत्य की व्याख्या करता है। इसलिए सूत्र को वेदान्त दर्शन कहा जाता है।

ग्रन्थ में सूत्रों की संख्या ५५५ है। अन्य मतों के अनुसार इनकी संख्या ४४९ है। सूत्र शब्द का अर्थ है: '' जो केवल अल्प शब्दों के द्वारा विशाल अर्थ उद्घाटित करता है।'' प्राचीन भारतीय दर्शन में

प्रयुक्त मीमांसा शब्द का अर्थ उन निष्कर्षों से है जो परिप्रेक्षा और अनुसंधान के बाद प्राप्त होते हैं तथा जो सभी सम्भव सन्देहों व विकल्पों पर गहन विचार के पश्चात् सही माने जाते हैं।

वेदों में दो विषयों पर विचार किया गया है: धर्म और ब्रह्म। पूर्व मीमांसा में कर्म, संस्कार व पूजा पद्धति का धर्म के रूप में विवेचन है। उत्तर मीमांसा का विषय ब्रह्म है। इसमें ज्ञान पर बल दिया गया है। पूर्व मीमांसा का प्रारंभ 'अथातो धर्म जिज्ञासा' के सूत्र से होता है। उत्तर मीमांसा का प्रारम्भ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के सूत्र से होता है।

ब्रह्म की अनुभूति धन संचय या धन के दान द्वारा नहीं हो सकती। न ही इसे शास्त्रों के अध्ययन, सत्ता, उच्च शिक्षा या शास्त्रोक्त यज्ञ व कर्मकाण्डों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

शरीर एक बाँबी है जिसके भीतर मन है। मन में अज्ञान रूपी सर्प छिपा है। काम्य कर्मों द्वारा इस सर्प को नहीं मारा जा सकता। इसे केवल ज्ञान रूपी अस्त्र द्वारा मारा जा सकता है।

"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्"। केवल श्रद्धावान् मनुष्य ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। और श्रद्धा का अर्थ है शास्त्रों में उल्लिखित कथनों में अचल विश्वास।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

सूत्र में अल्प शब्दों में अर्थ की विशालता और तत्त्व की गहनता निहित रहती है। ब्रह्म सूत्रों से वेदान्त के विज्ञान की रचना हुई है। सूत्र उपनिषदों से बहुरंगी पुष्प एकत्र कर सुन्दर माला की रचना करते हैं। प्रत्येक सूत्र की विस्तृत व्याख्या विद्वानों की क्षमता, श्रद्धा, रुचि, अनुभव एवं दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से की जा सकती है।

प्रथम सूत्र है 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। प्रारंभिक 'अथ' के कई शाब्दिक अर्थ हैं। किन्तु इस सूत्र में सर्वाधिक उपयुक्त अर्थ हैः 'इसके पश्चात्'। अतः प्रश्न उठता है कि 'किसके पश्चात्।' स्पष्ट है कि इसका आशय ब्रह्म जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा से है। इसका अर्थ है "जब ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हो जाय"। ऐसी जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हो सकती है? यह मन में तभी उत्पन्न हो सकती है जब मनुष्य आवश्यक योग्यताएँ अर्जित करे। ''इसके पश्चात्'' का तात्पर्य है ''इन योग्यताओं से सम्पन्न होने के पश्चात्''।

वेदों के अध्ययन मात्र से जिज्ञासा फलीभूत नहीं हो सकती। वेदों की विषय वस्तु धर्म है। ब्रह्म को समझने के लिये वेदान्त का अध्ययन आवश्यक है।

ब्रह्म जिज्ञासा हेतु प्राथमिक योग्यताओं में प्रथम है विवेकः नश्वर और शाश्वत में अन्तर करने की क्षमता। अर्थात यह ज्ञान कि केवल आत्मा ही कालातीत है तथा अन्य सभी इन्द्रियगोचर पदार्थ नश्वर हैं। केवल आत्मा ही अपरिवर्तनशील है। केवल यही नित्य सत्य है। दीर्घ विवेचन के फलस्वरूप मनुष्य को इस अविचल विश्वास की प्राप्ति कर उसमें दृढ़ स्थित रहना पड़ता है।

दूसरी योग्यता हैः इहामुत्र-फल-भोग-विरागः। इस लोक और परलोक में कर्म फल के भोग की इच्छा से विरक्ति। इसे वैराग्य भी कहते हैं। मनुष्य को विचार और विवेचन द्वारा सुख-दुःख की नश्वरता को जान लेना चाहिए। सुख और दुख मन को प्रभावित करने वाले प्रदूषण हैं। तब मनुष्य को यह निश्चय हो जाता हैं कि सभी वस्तुएँ सतत् परिवर्तनशील और क्षणभंगुर हैं तथा वे सब शोक ही प्रदान करती हैं। इसके पश्चात् मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। वैराग्य का अर्थ घर, पत्नी, बच्चों का त्याग कर वन में जाकर रहना नहीं हैं। वैराग्य से आशय जगत की नश्वरता की अनुभूति और इस अनुभूति के फलस्वरूप 'मैं और मेरा' की भावना के त्याग से है।

तीसरी योग्यता हैः ''शम दमादि गुण सम्पत्'', शम, दम आदि छः गुण।

ये छः गुण हैः शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।

शम : शम का अर्थ है मन का संयम। इसकी उपलब्धि अत्यंत कठिन है। मन बन्धन का कारण हो सकता है। यह मुक्ति भी प्रदान कर सकता है। यह राजसिक व तामसिक वृत्तियों का मिश्रण है। यह सुगमता से प्रदूषित हो जाता है। इसे वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को छिपा कर उन पर अपनी इच्छानुसार रूप और मूल्य आरोपित करने में आनन्द मिलता है। अतः मन की गतिविधियों का नियमन आवश्यक है।

मन की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम : यह इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है। चाहे किसी भी इन्द्रिय का मन अनुसरण करे, वह विनाश को निमन्त्रण देता है। पानी के घड़े को रिक्त होने के लिए दस छिद्र आवश्यक नहीं होते हैं। एक छिद्र ही घड़े को खाली करने के लिये पर्याप्त होता है। इसी प्रकार यदि एक इन्द्रिय भी नियन्त्रण में नहीं है तो मनुष्य बन्धन में पड़ जाता है। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय को वश में करना आवश्यक है।

मन की दूसरी विशेषता यह है कि उसकी क्षमता को ध्यान, जप, भजन, पूजा आदि साधनाओं द्वारा विकसित किया जा सकता है। इस प्रकार विकसित शक्ति और दक्षता से मन संसार का उपकार भी कर सकता है और अपकार भी। अतः इस प्रकार की साधना से प्राप्त मानसिक शक्तियों को गलत मार्ग से मोड़ कर शम द्वारा नियन्त्रित करना होता है। इन्द्रियों को बुद्धि द्वारा निर्देशित किया जाना चाहिये। उन्हें मन के नियन्त्रण से मुक्त करना होगा। तब आध्यात्मिक प्रगति की उपलब्धि हो सकती है।

मन इच्छाओं का पुलिन्दा है, कामनाओं और इच्छाओं का समूह है। जैसे ही कोई विचार, इच्छा या कामना मन में उठती है, बुद्धि को उसके गुण और मूल्य के सम्बन्ध में, इसकी अच्छाई व बुराई के सम्बन्ध में विवेचन करना चाहिये कि यह सहायक होगी या बाधक

होगी, यह कहाँ ले जाएगी या पहुँचेगी। यदि मन इस विवेचन के अनुसार नहीं चलता है तो यह स्वयं को विनाश की राह पर ले जायेगा। बुद्धि का अनुसरण कर यह उचित मार्ग पर चल सकता है।

मनुष्य के पास अपने उत्कर्ष के लिये तीन मुख्य उपकरण हैं: बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ। जब मन इन्द्रियों का दास बन जाता है तो मनुष्य प्रपंच और बन्धन में पड़ जाता है। वही मन बुद्धि द्वारा नियंत्रित होने पर मनुष्य को उसकी वास्तविकता अर्थात् आत्मा की अनुभूति करवा सकता है। इसीलिये कहा जाता है कि मन या तो बन्धन का कारण है या मुक्ति का।

दम : छः गुणों में दूसरा है दम। दम से तात्पर्य है शरीर व इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना। यह केवल साधना द्वारा सम्भव है अन्य किसी साधन द्वारा नहीं। मनुष्य को व्यर्थ के कार्यों में अपना अमूल्य समय नष्ट करने से बचना चाहिये। उसे सदैव सतर्क रहना चाहिये। ज्ञानेन्द्रियों तथा शरीर को उपयुक्त किन्तु श्रेष्ठ कार्यों में लगाना चाहिये जिससे वे निष्क्रिय न रह सकें। तमस या प्रमाद का कोई अवसर इन्हें नहीं मिलना चाहिये। प्रत्येक कार्य से दूसरों का हित होना चाहिये। स्वधर्म में सीमित रहकर कर्मों को शरीर व इन्द्रियों की साधना में परिवर्तित करना सम्भव है।

उपरति : तीसरा अपेक्षित गुण है उपरति। यह मन की ऐसी स्थिति है जो सुख-दुःख, रुचि-अरुचि, अच्छाई-बुराई, प्रशंसा-निन्दा आदि मनुष्य को उद्वेलित करने वाले समस्त द्वन्द्वों से परे और ऊपर होती है। किन्तु इन सार्वभौमिक अनुभवों से मुक्ति आध्यात्मिक साधना या बौद्धिक विवेचन द्वारा मिल सकती है। मनुष्य इन द्वन्द्वों और द्वैतभावनाओं से बच सकता है और समत्व भाव और सन्तुलन प्राप्त कर सकता है। दिन-प्रतिदिन के जीवन में लगे रहते हुए सावधान रहकर विषमताओं में उलझने से बचकर उपरति को प्राप्त किया जा सकता है मनुष्य को स्वंय को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जाति के बंधन,

गोत्र, आयु अवस्था व लिंग भेद की भावनाओं से मुक्त कर लेना चाहिए। इनसे मुक्त होने और आत्मिक सत्य में स्थित हो जाने पर मनुष्य उपरति को प्राप्त होता है।

संसार को लौकिक आँखों से न देखो। उसे आत्मा की आँख से परमात्मा की छवि के रूप में देखो। इससे मनुष्य द्वैतभाव के क्षितिज को पार कर 'एकत्व' के क्षेत्र में पहुँच सकता है। 'एक' की अनुभूति अनेक के रूप में होती है क्योंकि मनुष्य ने 'एक' पर अनेक रूप और नाम आरोपित कर दिये हैं। यह मन द्वारा खेले जा रहे खेल का परिणाम है। उपरति से निवृत्ति का विकास होता है प्रवृत्ति का नहीं। निवृत्ति में ज्ञान मार्ग (बौद्धिक जिज्ञासा) है और प्रवृत्ति में कर्म मार्ग है। वेदों में वर्णित कर्मकाण्ड और संस्कार कर्म जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति अर्थात् मोक्ष नहीं दिला सकते। वे केवल चेतना का शुद्धिकरण करते हैं। कहते है कि वे मनुष्य को स्वर्ग तक पहुँचा देते हैं किन्तु स्वर्ग भी तो एक बन्धन है। इसमें शाश्वत मुक्ति नहीं है। ऐसी मुक्ति जो मनुष्य को उसके स्वयं के सत्य का ज्ञान कराती है केवल श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा प्राप्त की जा सकती है। गुरु से केवल उन्हीं को लाभ मिलता है जिन्होंने अपने मन को इच्छाओं से मुक्त कर लिया है। अन्य लोग उपदेश से लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। मनुष्य अपनी चेतना के शुद्ध होने तक कर्मों में संलग्न रह सकते हैं। इसके बाद उनके कार्यों का कोई मूल्य नहीं रहता। इसलिये मनुष्य को सर्वव्यापी आत्मा की सदैव अनुभूति रखनी चाहिये ताकि आकर्षण और विकर्षण की द्वैत भावना उसे प्रभावित न कर सके।

तितिक्षा : चतुर्थ गुण है तितिक्षा। यह ऐसी सहिष्णुभाव की स्थिति है जो शोक, हानि तथा लोगों की कृतघ्नता व धूर्तता से प्रभावित या दुःखी नहीं होती। ऐसा मनुष्य प्रसन्न व शान्त रहता है क्योंकि वह जानता है कि यह उसके स्वयं के कर्मों का फल है। पीड़ा पहुँचाने वालों को भी वह अपना मित्र व शुभचिन्तक मानता है। न वह क्षुब्ध होता है

और न उनके प्रति दुर्भावना रखता है। सभी आघातों को वह धैर्य तथा प्रसन्नता पूर्वक सहन करता है।

व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया अन्य व्यक्ति द्वारा चोट पहुँचाने पर बदले में उसे चोट पहुँचाने, हानि करने पर हानि करने की तथा अपमान करने पर किसी भी उपाय से उसका अपमान करने की होती है। किन्तु यह प्रवृत्ति पथ का लक्षण है। निवृत्ति मार्ग अपनाने वालों को ऐसी प्रतिक्रिया से बचना चाहिए। चोट के बदले चोट, हानि के बदले हानि तथा अपमान के बदले अपमान करने से कर्म संचय होता है और इन कर्मों को भावी जन्मों में वहन कर उन्हें चुकाना पड़ता है। इस कर्म बोझ को आगामी कहा जाता है। मनुष्य अपने विचार, वचन और कर्मों के परिणाम से बच नहीं सकता। बुराई के बदले बुराई से कर्म का भार कभी हल्का नहीं हो सकता। यह बढ़ता ही है। यह तात्कालिक सुख और सन्तोष प्रदान कर सकता है किन्तु बाद में कष्ट उठाना ही पड़ता है। अतः तितिक्षा मनुष्य को बुराई के बदले में भलाई करना सिखाती है।

श्रद्धा : पाँचवा गुण जो विकसित करना है, वह है श्रद्धा। श्रद्धा का अर्थ है शास्त्रों और उनमें बताए गए नियमों में तथा आत्मा एवं गुरु में अटल विश्वास। विश्वास श्रद्धा का लक्षण है। गुरु पूजनीय हैं। वे हमें श्रेयमार्ग बतलाते हैं। शास्त्रों की रचना संसार की शान्ति एवं समृद्धि तथा मानवता की आध्यात्मिक पूर्णता हेतु की गई है। यही उनका महान लक्ष्य हैं। वे इसे प्राप्त करने का मार्ग बतलाते हैं। अतः मनुष्य को ऐसे पवित्र शास्त्रों, गुरुओं तथा अन्य आदरणीय जनों में श्रद्धा रखनी चाहिए। गुरुओं का कर्त्तव्य है कि वे सभी प्राणियों में निहित आत्मा की एकता के ज्ञान (सर्व जीवात्मैक्य ज्ञान) की शिक्षा दें। श्रद्धावान ही यह ज्ञान प्राप्त कर पाता है। उन्हें स्वयं इसमें पूरी श्रद्धा रखनी चाहिये तथा दृढ़ता पूर्वक उस श्रद्धा के अनुरूप जीवन जीना चाहिये।

समाधान : छठा गुण है समाधान। मनुष्य को पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि शास्त्रों की शिक्षा तथा गुरु की शिक्षा में कोई अंतर नहीं है।

मनुष्य की बुद्धि का आधार और प्रेरणा स्रोत सदैव सभी परिस्थितियों में आत्मा होना चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक मनुष्य को केवल अपरिवर्तनशील विराट चैतन्य से संबंध रखना चाहिये। उसके सभी कर्मों का लक्ष्य भगवद् आनन्द होना चाहिए। उसे शास्त्र के इस कथन में पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि सभी प्राणी ईश्वर के अंश हैं। इस विश्वास को दृढ़ व सशक्त करने के लिये मनुष्य को सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखनी चाहिये। इस छठे गुण को साधना सम्पत्ति कहा गया है और यह आध्यात्मिक साधना का रत्न है।

मुमुक्षुत्वम् : इसके पश्चात् मुमुक्षुत्वम् (मोक्ष या मुक्ति की इच्छा) के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यह इच्छा धन से या धन द्वारा प्राप्त की गई विद्वत्ता से उत्पन्न नहीं हो सकती। सम्पत्ति वैभव या संतान या शास्त्रों में सुझाए गये कर्मकाण्डों या दान आदि से भी यह नहीं उपजती। मोक्ष की इच्छा की प्राप्ति तो केवल अज्ञान पर विजय पाकर ही हो सकती हैं। मनुष्य समस्त शास्त्रों तथा विद्वानों द्वारा इन पर लिखी टीकाओं का ज्ञाता हो सकता हैं। वह निर्धारित पूजा अर्चना व अनुष्ठानों को सम्पन्न करके समस्त देवताओं को प्रसन्न कर सकता है। किन्तु ये उसे मोक्ष का फल नहीं प्रदान कर सकते। ये सब ज्ञान के लिए नहीं, अन्य वस्तुएँ व फल पाने की इच्छा से किए जाते हैं। ज्ञान मार्ग में सफलता ही मोक्ष प्रदान कर सकती है। मनुष्य के पास भोजन बनाने की प्रत्येक सामग्री हो किन्तु अग्नि उपलब्ध न हो तो भोजन कैसे तैयार किया जा सकता है। इसी तरह यदि आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तो मुक्ति नहीं मिल सकती। यदि यह कहा जाए कि पवित्र नदियों के जल में स्नान करने से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है तो उन मछलियों व जीव जन्तुओं के क्या कहने जो अपना पूरा जीवन उन नदियों में व्यतीत करते हैं। यदि माना जाए कि पर्वतों की गुफाओं में रहने से मुक्ति मिल सकती है तो उनमें रहने वाले चूहे आदि जन्तुओं व अन्य जंगली पशुओं की उपलब्धि के क्या कहने! यदि कन्दमूल और पत्तियाँ खाकर तप करने से

मुक्ति मिल सकती है तो बकरियाँ और सुअर तो अवश्य मुक्ति पाते होंगे? यदि शरीर पर भस्म लगाने से कोई तपस्वी कहला सकता है तो भस्म की ढेरी पर लोटने वाले कुत्ते और गधे भी क्या मुक्ति के दावेदार हो सकते हैं? ये मान्यताएँ और प्रथाएँ अज्ञान की द्योतक हैं। मनुष्य को आत्म ज्ञान प्राप्त करने हेतु ध्यान एकाग्र करना चाहिए।

जिस 'अथ' शब्द से प्रथम सूत्र का प्रारम्भ होता है उस का अर्थ है 'उसके पश्चात्' अर्थात् विवेक, वैराग्य, उपरोक्त छः गुण तथा मोक्ष की उत्कंठा से युक्त होने के पश्चात्।

सूत्र का द्वितीय शब्द 'अतः' है जिसका अर्थ है 'इसलिए'। किसलिए? इसलिए, क्यों कि न तो शास्त्रों के विवेचन से न कर्मकाण्डों या अनुष्ठानों के निष्पादन से, न ही भौतिक विषयों के अध्ययन से तथा न ही अन्य मनुष्यों के उदाहरण से शिक्षा लेने से परम सत्ता अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति की जा सकती है। क्योंकि पदार्थ और व्यक्ति, कर्मकाण्ड और संस्कार कार्य नश्वर हैं। वे क्षयशील और मर्त्य हैं। अधिक से अधिक वे मन को निर्मल बना सकते हैं। कर्म मनुष्य को अज्ञान से मुक्त नहीं कर सकते और न ही सत्य की ब्रह्म रूप में अनुभूति करा सकते हैं। मनुष्य को ब्रह्माण्ड के स्रोत व केन्द्र ब्रह्म के रहस्य के विवेचन का अधिकारी बनने के लिए इस बाधा से परिचित होना चाहिये।

इस प्रथम सूत्र की यही शिक्षा है कि जो अपना जीवन आत्मज्ञान की प्राप्ति करने में लगाता है, उसे पावन सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिये और उसका आचरण इन सद्गुणों द्वारा निर्देशित होना और पवित्र बनना चाहिए क्योंकि सत्चरित्र से बढ़कर कोई विद्या नहीं हो सकती। वास्तव में चरित्र ही शक्ति है। उच्च ज्ञान की प्राप्ति में अपना जीवन लगा देने वाले मनुष्य के लिए उत्तम चरित्र अनिवार्य योग्यता है। प्रत्येक धर्म आध्यात्मिक जीवन व आचरण के आधार के रूप में इसी आवश्यकता पर बल देता है। जो मनुष्य इस प्रकार जीवन जीते हैं उन्हें कभी दुःख नहीं उठाना पड़ता। उन्हें उच्च व उत्तम पद प्राप्त होता है।

मनुष्य की अन्तश्चेतना के शुद्धिकरण के लिए सद्‌गुण सदैव सर्वाधिक प्रभावशाली साधन हैं। क्योंकि वे मनुष्य को वांछित कर्म और उनके करने की शैली के सम्बन्ध में खोज करने को प्रेरित करते हैं। जिन्होंने अच्छा भाग्य अर्जित किया है वे ही विवेक में दक्ष होने का दावा कर सकते हैं और इस विवेक का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण ही मनुष्य को भवसागर के पार ले जा सकता है। मुक्त मनुष्यों में सदाचारी मनुष्य का विशेष स्थान है। सदाचारी मनुष्य पर उसके द्वारा किए गए स्वधर्म के कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ता है। वह परमानंदस्वरूप ब्रह्म में विलीन हो पाता है।

मनुष्य अनेक प्रकार के वैदिक कर्मकाण्ड करे, विभिन्न पवित्र शास्त्रों पर अधिकार प्राप्त कर उनकी व्याख्या करे, धन-धान्य से सम्पन्न और समृद्ध हो, वेदों व उनकी संहिताओं की अर्थ सहित व्याख्या कर उनकी शिक्षा दे, परन्तु यदि वह नैतिक चरित्र से हीन है तो वह विद्या का अधिकारी नहीं हो सकता। इस सूत्र की यही शिक्षा है।

आध्यात्मिक प्रगतिके लिए अनिवार्य समत्व भाव की स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है जब बुद्धि पर लगे मोह और राग के मैल को साफ कर दिया जाये। समत्वभाव के बिना बुद्धि ब्रह्म मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकती। क्यों? आत्मा द्वारा निर्देशित बुद्धि का ही दूसरा नाम सद्‌गुण है। ऐसे सद्‌गुण से युक्त मनुष्य ही आत्मा अर्थात् सत्य की अनुभूति कर सकता है। एक बार यह अनुभूति हो जाने पर वह कभी माया या इच्छा के वश में नहीं जकड़ता। वे उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते।

इच्छित वस्तुओं के प्रति कामना व बंधन तथा उन्हें प्राप्त करने की युक्तियाँ जीव का लक्षण हैं देह में रहने वाली आत्मा का नहीं। मैं और मेरा का भाव तथा वासना और क्रोध की भावनाएँ देह और मन में उत्पन्न होती हैं। देह और मन पर विजय पाकर और इनसे ऊपर उठकर ही वास्तविक सद्‌गुण प्रकट हो सकते है।

'कर्त्ता' और 'भोक्ता' का भाव आत्मा की प्रकृति का अंग नहीं है। दर्पण में वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं और आकृतियाँ प्रकट होती हैं

किन्तु दर्पण उससे मैला या प्रभावित नहीं होता। यह वैसा ही स्वच्छ बना रहता है। इसी प्रकार पूर्व जन्मों के संचित कर्मों के परिणाम स्वरूप सदाचारी मनुष्य कतिपय दूषित कार्यों में प्रवृत्त हो सकता है किन्तु वे उसके वर्तमान स्वभाव या कार्यों में बाधा नहीं डाल सकते या उन्हें प्रभावित नहीं कर सकते। जीव अर्थात मनुष्य के मूल वास्तविक लक्षण हैः पवित्रता, शान्ति और आनन्द। वह इन गुणों से परिपूर्ण है।

आकाश की गहराइयों में उड़ते हुए पक्षी को दो पंखों की आवश्यकता होती है। पृथ्वी पर मनुष्य को चलने के लिए दो पैरों की आवश्यकता होती है। मोक्ष के साधक को वैराग्य और विवेक की आवश्यकता होती हैः सांसारिक इच्छाओं से वैराग्य व आत्मा को जानने का विवेक। पक्षी के एक ही पंख हो तो वह आकाश में नहीं उड़ सकता। इसी प्रकार यदि मनुष्य में केवल वैराग्य हो या केवल विवेक हो तो वह परमात्मा या ब्रह्म को नहीं पा सकता। 'मेरा' की भावना आसक्ति का बन्धन है। जिसे 'मेरा' कह कर संजोया जाता है उसे कोई कब तक अपने पास रख सकता है। एक दिन उसे सब कुछ छोड़ कर अकेले और खाली हाथ प्रस्थान करना पड़ता है। यह अपरिहार्य नियति है।

मनुष्य को ऐसे सभी काल्पनिक सम्बन्धों और कृत्रिम आसक्तियों को उनकी प्रकृति का गहन विश्लेषण कर जितना जल्दी सम्भव हो, छोड़ देना चाहिये। वैराग्य की यही शिक्षा संसार देता है। आसक्ति से भय और अंहकार उत्पन्न होता है। मूर्ख लोग ही ऐसी सांसारिक माया के शिकार होते हैं। बुद्धिमान लोग भौतिक इच्छाओं के सामने कभी नहीं झुक सकते। सब कुछ क्षण भंगुर है, क्षणिक है। सब कुछ अनित्य है, नश्वर है। इसलिये वे शाश्वत सत्य को पहचान कर उन सद्गुणों पर दृढ़ रहते हैं जिनका प्रतिनिधित्व आत्मा करती है। ये वास्तविक सदाचारी मनुष्य हैं जो ब्रह्म-साक्षात्कार करने के सुयोग्य पात्र होते हैं।

जन्माद्यस्य यतः

इस (जगत्) के जन्म आदि जिससे (होते हैं)

इस दृश्यमान ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति व प्रलय के स्रोत को ब्रह्म रूप में जानना है। ब्रह्म वह सत्ता है जिससे यह जगत उत्पन्न हुआ है। निरन्तर गतिमान होते हुए भी इसे ब्रह्म के द्वारा संगठित बनाये रखा जाता है। यह अन्त में ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। इस जगत के नियन्त्रण व नियमन की प्रक्रिया के निर्धारित करने व निर्णय लेने वाली क्या कोई सत्ता नहीं होनी चाहिये? जगत उपरोक्त स्थितियों में न केवल एक विराट व्यवस्था और समग्र ज्ञान का दर्शन होता है अपितु अज्ञान भी। जन्मादि (सृष्टि, स्थिति और प्रलय) अस्य (इस दृश्यमान जगत का) यतः (जिससे) वह ब्रह्म है अर्थात् इस पंचतत्वों के प्रपंच यानि जगत का जिसके द्वारा प्रारंभ, पालन और अंत होता है वह ब्रह्म है।

हम ब्रह्माण्ड की प्रकृति के सबंध में बहुत कुछ जान सकते हैं। किन्तु जानने का जो उपकरण हमारे पास है वह है आँख। भौतिक विज्ञान ने बहुत कुछ खोज की है और वह सब मानव मस्तिष्क से संभव हुई है। ये पदार्थों की तात्कालिक स्थिति के अनुसार उनका वर्णन और विश्लेषण करते हैं किन्तु वस्तुएँ कितने समय तक एक ही स्थिति में बनी रहती है? वे प्रति क्षण परिवर्तन शील हैं। किन्तु इस अपरिहार्य परिवर्तन के होते हुए भी अपरिवर्तनशील सत्य या तत्व को जान लिया जाता है। यह अपरिवर्तनशील तत्व ही वह आधार है जिस पर तीनों स्थितियाँ प्रकट होती हैं। वह तत्व ब्रह्म हैः शाश्वत आधार, अविचल, अद्वितीय, सत्य।

मनुष्य इस तथ्य को स्वीकार करने में संकोच कर सकता है तथा संदेह में पड़ सकता है क्योंकि आधारभूत ब्रह्म अनुभव में नहीं आता। जो अनुभव किये जाते हैं वह नामों से युक्त रूप है जो निरन्तर परिवर्तन शील हैं। व्यक्ति रात्रि में किसी वृक्ष के सूखे ठूंठ को देखकर डर जाता है कि वह कोई भूत या अन्य विचित्र प्राणी तो नहीं है। ऐसा नहीं होता यद्यपि वह ऐसा दिखाई देता है। इस भ्रांति का कारण अंधकार होता है। अंधकार वस्तु पर अन्य वस्तु का प्रत्यारोपण कर देता है जो वहाँ होती ही नहीं। इसी प्रकार माया के अंधकार में ब्रह्म दिखाई नहीं देता और वास्तविकता के रूप में इस पर जगत का प्रत्यारोपण हो जाता है। ज्ञान के द्वारा इस भ्रमित दृष्टि को दूर किया जाता है तथा सार्वभौमिक प्रेम का दर्शन होता है। ब्रह्माण्ड, जिसका कि पृथ्वी एक अंश है और जिसके साथ हमारा सीधा संबंध है, का आधारभूत कारण स्वयं ब्रह्म है।

कुछ अन्य लोग जगत (प्रपंच) की उत्पत्ति के कारणों में स्वभाव, स्व-व्यवस्था, संयोग, काल आदि को बताते हैं। किन्तु ये पृथक या मिलकर भी जगत की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकते। क्योंकि ये सभी जड़ हैं और इच्छा (संकल्प) या स्व-प्रवृत्ति करने में अक्षम हैं। जीव स्वयं भी सुख-दुख, उत्पत्ति-क्षय और जन्म-मरण की जंजीरों से बंधे हुए हैं। उपरोक्त सभी 'कारण' पराश्रित एवम् संदिग्ध हैं अतः जगत या प्रपंच की उत्पत्ति के कारण रूप में ये स्वीकार्य नहीं हो सकते।

इस सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' का प्रयोजन हमें उस सब के वास्तविक आधार की खोज कराना है, जो 'है', 'था' तथा 'होगा'। यह महत्व के विषय में बताता है जो कि 'है' को 'हो जाना' में परिवर्तित करने का कारण है तथा ब्रह्माण्ड के नियम बद्ध संचालन का कारण है। आधुनिक विज्ञान पदार्थ की संरचना का अन्वेषण कर सकता है और व्याख्या कर सकता हैं कि यह कैसे बना किन्तु वह इस बात की जाँच व खोज नहीं कर सकता कि यह ऐसा क्यों बना। निश्चित रूप से प्रत्येक परिणाम या घटना के लिए कोई कारण होना आवश्यक है। न तो परमाणु और

आत्मा का और न इन दोनों की अनुपस्थिति को कारण माना जा सकता है। सत् कर्त्ता और कर्म तथा दृश्य और द्रष्टा दोनों से परे है किन्तु जब हम सत् या ब्रह्म की चर्चा करते हैं तो प्रचलित शब्दों : सृष्टि कर्त्ता, स्वामी, परमेश्वर, ईश्वर और ब्रह्म— का उपयोग करना आवश्यक हो जाता है।

जब जगत की दृष्टि से कारण व परिणाम का अन्वेषण किया जाता हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईश्वर कारण है और जगत् परिणाम है। जब कर्त्ता और कर्म का अन्तर विलुप्त हो जाता है तब हम जान पाते हैं कि यह सब ब्रह्म है और यह ब्रह्म प्रधान और गौण दोनों कारक है। यह आद्य अविद्या है। माया के कारण यह भ्रांति होती है कि एक की उत्पत्ति दूसरे से होती है। कुछ अन्य लोग हैं जो यह प्रतिपादित करते हैं कि जगत् का कारण, माया व ब्रह्म दोनों हैं। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि केवल माया ही जगत की उत्पत्ति का एकमात्र कारण है।

कुछ लोगों का कथन हैं कि ब्रह्माण्ड विष्णु का प्रकटरूप है और यह स्वयं विष्णु में स्थित हैं। इनके अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति व लय सभी का कारण विष्णु है।

निश्चय ही ब्रह्माण्ड में रचनाकार के बिना कोई वस्तु रचित नहीं हो सकती। फिर ब्रह्माण्ड के रचयिता का स्वरूप क्या होना चाहिये? उसे अपरिमित बलशाली, अनन्त महिमा युक्त और पूर्ण सर्वज्ञ होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य के लिए ऐसे स्वरूप की कल्पना कर पाना संभव नहीं है यद्यपि यह प्रत्येक मनुष्य के जीवन के लक्ष्य की परिणति है। इसकी कल्पना दो लक्षणों से की जा सकती है: तटस्थ और स्व-रूप। 'तटस्थ' अस्थाई समय-सापेक्ष चिन्ह है। यह सही रूप का बोध नहीं करा सकता। यह केवल कभी-कभी लक्षण और झलक प्रकट कर सकता है। 'स्वरूप' का अर्थ है सम्पूर्ण वास्तविकता। यह सहज ज्ञान के उद्भव का परिणाम हैं। यह अन्तस्थ, अलौकिक अनन्त स्रोत को प्रकट करता है।

ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पाँच गुणों से युक्त होती हैः अस्ति,

भाति, प्रियम्, रूपम्, नामम्। अस्ति का अर्थ है अस्तित्व होना। यह हर वस्तु का लक्षण है। भाति का अर्थ है प्रकाशमान या दृश्यमान होना। इसी गुण के कारण वस्तु का हम ज्ञान कर पाते हैं। इसके पश्चात प्रियम् शब्द आता है। संसार की प्रत्येक वस्तु की कुछ न कुछ उपयोगिता है जिसके कारण वह किसी न किसी के लिए प्रिय होती है। प्रिय लगना ही प्रियम् का अर्थ है। दो अन्य गुण हैं रूप और नाम। ये परिवर्तनशील हैं और उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है। सभी वस्तुओं में कुछ ना कुछ होता प्रतीत होता है और प्रायः वे पुनः अपने मूल रूप में भी आ जाती हैं। नाम और रूप प्रथम तीन गुणों अस्ति, भाति और प्रियम पर आरोपित होते हैं। ईश्वर आधार है। ईश्वरीय संकल्प उसके ऊपर बना भवन है। माला के मनके अनेक होते हैं किन्तु उन्हें आपस में जोड़ने वाला सूत्र एक ही रहता है। यही बात जीवित प्राणियों के संसार के विषय में है। नित्य, सर्वव्यापी, परब्रह्म, सर्वोच्च दिव्य चैतन्य, ईश्वर आधार है। 'सोहम्', 'वह', 'मैं वह हूँ' ये सभी कथन इंगित करते हैं कि नाम और रूप के आधार पर स्वयं को भिन्न प्रदर्शित करने वाले भी वस्तुतः स्वयं ईश्वर हैं। यही कारण है कि वेदों में कहा गया है कि 'जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है'। यह अनुभूति सत्य की अनुभूति है।

जल से उत्पन्न बुलबुला जल पर तैरता है और फूटकर उसमें एक हो जाता हैं। समस्त दृश्यमान भौतिक जगत दिव्यत्व के विशाल महासागर ब्रह्म से उत्पन्न हुए बुलबुलों के समान हैं। वे जल के ऊपर जल द्वारा बने होते हैं। अन्यथा वे कैसे उत्पन्न हो सकते हैं या बने रह सकते है? अन्त में वे जल में ही मिल कर अदृश्य हो जाते हैं। वे अपनी उत्पत्ति, स्थिति और लय के लिये जल पर ही निर्भर रहते हैं। जल एक है, बुलबुले अनेक हैं। जल सत्य है, बुलबुले क्षणिक रूप हैं। जल आधार है, बुलबुले उस पर अध्यारोपित जल का रूप है।

इस प्रकट संसार को देखकर मनुष्य चकित हो जाता है। पुरातन युगों में ब्रह्माण्ड के किसी दूरस्थ कोने में प्रकृति के जड़, अचेतन कणों

से जीवन प्रकट हुआ तथा मानव और देवताओं के रूप में विकसित हुआ। यह तथ्य सभी को मालूम है और जाना जा सकता हैं। किन्तु क्या अधम को उच्च का आधार माना जा सकता है। अधम तो अधम का ही कारण हो सकता है। हम कह सकते हैं कि जड़ तत्व अधिक से अधिक मन का कारण हो सकता है जो इस देह का अंग है किन्तु उपर्युक्त पाँचों विशिष्टताओं से युक्त समस्त सृष्टि का कारण तो केवल ईश्वर ही हो सकता है। जटिल मन के उत्पन्न होने का और कोई कारण नहीं बताया जा सकता।

धारणा यह है कि ब्रह्माण्ड में सभी घटनाएँ निश्चित विधियों व नियमों के अनुसार होती हैं। यह बात सदा स्वप्रमाणित नहीं है किन्तु भौतिक विज्ञान यह प्रमाणित करने का प्रयास कर रहा है कि यह पूरी तरह सम्भाव्य है। प्रथम सूत्र में सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म का उल्लेख है। द्वितीय सूत्र उसी ब्रह्म का एक अन्य रूप में, एक अन्य पक्ष से वर्णन करता है। प्रथम सूत्र सत्य, ज्ञान व स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है। द्वितीय सूत्र ब्रह्म के सृजनात्मक पक्ष का वर्णन करता है और बताता है कि यह पक्ष केवल इस जगत विशेष तक सीमित नहीं है।

प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म, अन्तर्निहित विशिष्टता, विशेषता या लक्षण होते हैं। यह बात घास के तृण से लेकर आकाश में घूमते ग्रहों पर समान रूप से लागू होती है। जगत एक सतत प्रवाहशील वस्तु नहीं है। यह गुणों व परिस्थितियों में पूर्णत्व प्राप्त करने हेतु दृढ़तापूर्वक विकासशील हैं। मनुष्य भी स्व-प्रयास व विवेक द्वारा स्वयं को अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठा सकता है। संसार को चलाने वाली नैतिक शक्तियाँ निश्चित रूप से हमारी उपलब्धियों में सहायक होंगी किन्तु मनुष्य सर्वव्यापी माया में इतना डूबा है कि वह इनसे लाभ उठाकर स्वयं का उत्थान नहीं कर पाता। उसे संसार में शान्ति और सामंजस्य का मार्ग मालूम नहीं है। वह अच्छाई पर दृढ़ रहने और बुराई को छोड़ने में समर्थ नहीं है। वह स्वयं को धार्मिक पथ पर आरूढ़ नहीं कर पाता।

"जन्मादि अस्य यतः"। जिससे इस का जन्म आदि है। "जिससे" इस चल व अचल तत्वों से युक्त दृश्य जगत की उत्पत्ति हुई है, "जो" इन सबके विकास का प्रेरक, जनक व पालन कर्त्ता है और अन्त में ये सब "जिसमें" समा जाते हैं, "उसे" ही ब्रह्म जानो।

तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है: "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यन्प्रसन्त्यभिसंविशंति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति"। जिससे वे उत्पन्न होते हैं और जिसमें वे विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है। अद्वैतवादियों में ब्रह्म की उत्पत्ति के संबंध में गहरे मतभेद और विवाद हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्म स्वयं कारण है जब कि कुछ लोग माया को इसकी उत्पत्ति का कारण मानते हैं। अन्य लोग ब्रह्म और माया दोनों को कारण मानते हैं। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि यह विष्णु से उत्पन्न हुआ है और विष्णु में लय होता है। विष्णु द्वारा ही इसका पालन होता है। कुछ लोगों का कथन है कि ब्रह्म विषयक कथन मात्र संकेतात्मक है, जगत में निहित तत्व का तटस्थ लक्षण मात्र है। ब्रह्म के अनन्त स्वरूप और गुण हैं तथा इसके द्वारा सृष्टि की रचना, पालन और स्वयं में उसका लय होना इसके स्वरूप को समझने के लिए संकेत है।

कुछ अन्य लोग यह मानते हैं कि मन ही सृष्टि का कारण हैं क्योंकि पदार्थ व सभी पाँचों तत्त्व मन के द्वारा प्रक्षेपित हैं और मन स्वयं जड़ प्रकृति का विकसित रूप है। मन की कार्य प्रणाली की व्याख्या संभव नहीं है। एक परम चैतन्य हैं और वही सृष्टि का कारण है। ये सब विभिन्न चिन्तकों द्वारा उनकी बौद्धिक प्रखरता द्वारा संभव अनुमान या धारणाएँ हैं।

वैज्ञानिकों ने अपने तरीकों से गवेषणा कर विभिन्न निष्कर्षों को प्राप्त किया है। उनके अनुसार काल (समय) संसार की उत्पत्ति का कारण है तथा काल ही इसका पालन और लय करता है। अतः यह सब काल का प्रभाव है जो इसका नियमन करता है। कुछ लोग सम्पूर्ण प्रक्रिया का

कारण वस्तुओं की अन्तर्निहित प्रकृति तथा उनकी प्रस्फुरण की प्रवृत्ति को बताते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप को अपने ही तरीके से अपने समय पर प्रकट करती है। उदाहरणार्थ आम के बीज को बोने से आम का पेड़ ही उगता है। शेरनी की कोख से शेर ही पैदा होता है, बकरी का बच्चा नहीं। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्राचीन काल से सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में परस्पर विरोधी अनेक धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। तथापि प्रत्येक मान्यता और विचार उत्पत्ति के वास्तविक कारण को जानने और परिभाषित करने में असफल रहा है।

जगत् एक भव्य आश्चर्य है, निरन्तर कौतूहल का स्रोत है। कोई भी मनुष्य इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। किसी भी वस्तु को बनाने के लिए कुशल, बुद्धिमान व्यक्ति होना चाहिए। रचयिता के बिना कोई भी रचना संभव नहीं है। तो फिर सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्रमण्डल, उनकी चमक, गति ये सब बिना किसी रचयिता के कैसे संभव है? क्या ये किसी मामूली सत्ता के अंतर्गत संभव है? नहीं, बुद्धिमान व्यक्ति सृष्टि की इन विराट रचनाओं को देखकर आसानी से अनुमान लगा सकते हैं कि इनका रचयिता कितनी अतुल शक्ति का स्वामी होगा।

सृष्टि की विस्मयजनक विविधताओं को देखो। कोई भी वस्तु दूसरी के समान नहीं है। कोई व्यक्ति दूसरे के समरूप नहीं हैं। यह असीम महिमा-संपन्न सत्ता प्रभु की लीला ही हो सकती है। अन्य शक्ति इस जगत का स्रोत नहीं हो सकती। सृष्टि में निहित रहस्य के आधार पर मनुष्य सरलता से उस सर्वशक्तिमान सत्ता का अनुमान लगा सकता है जिसने इसका सृजन किया है। सृष्टि के रहस्य को समझने में असमर्थ मनुष्य स्रष्टा के स्वरूप को कदापि नहीं समझ सकते।

सृष्टि या जगत ब्रह्म में अन्तर्निहित संकल्प का प्रकट रूप है। यह सब ईश्वर का संकल्प है। उपरोक्त अन्य व्याख्याएँ करने वाले विद्वान, केवल अपना समय नष्ट कर रहे हैं। तर्क वितर्क थोथा परिश्रम है। इन्हें पंडितों का विद्वत्ता प्रदर्शन या विद्वानों का बौद्धिक व्यायाम कहा जा

सकता हैं। ये उन लोगों की उत्कंठा को सन्तुष्ट नहीं कर सकते जिनके मन पवित्र हैं और जिनकी चेतना शुद्ध हो चुकी हैं। प्रत्येक वस्तु दिव्य संकल्प का परिणाम है, ऐसा आस्तिकों का दृढ़ विश्वास है। प्रत्येक व्यक्ति इस समस्या का समाधान अपनी अनुभूति के स्तर से करता हैं। सूत्र इन विविध दृष्टि-कोणों का वर्णन करते हैं तथा उनकी प्रामाणिकता पर विचार करते हैं। पक्षी अपने पंखों की शक्ति के अनुसार ऊँचाई तक उड़ते हैं। इसी प्रकार इन चिन्तकों ने भी अपनी श्रद्धा और बुद्धि के आधार पर जगत की उत्पत्ति, स्थिति व लय के विषय में अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

किन्तु इस अन्वेषण में साक्ष्य या प्रमाण के रूप में निर्भर अधिक से अधिक तटस्थ लक्षणों पर ही निर्भर किया जा सकता है। ये लक्षण भी अल्प उपयोगी ही हैं। स्वरूप लक्षण ही सत्य का बोध करा सकते हैं। ये हैं सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप "सत्य" हैं। यह विराट चैतन्य ज्ञानम् हैं। यह समय और आकाश से परे शाश्वत है। और ये सब ब्रह्माण्ड की जड़ या चेतन प्रत्येक वस्तु में निहित हैं।

तटस्थ लक्षण वस्तु या व्यक्ति को जानने हेतु अस्थायी संकेत हैं। उदाहरणार्थ दूज के चन्द्रमा को देखने के लिए उंगली से संकेत कर दिया जाता है। किसी विशेष तारे को देखने के लिए बताते हैं, "वहाँ, ठीक इस वृक्ष की शाखा के ऊपर।" चन्द्रमा बहुत दूर है और तारा तो और भी दूर है। "शाखा से ठीक ऊपर" अस्थायी स्थिति होती है। कुछ समय में ही यह बदल जाती है। उंगली का संकेत सही नहीं रह जाता क्योंकि तारा और चन्द्रमा आकाश में आगे बढ़ जाते हैं।

स्वरूप लक्षण कभी परिवर्तित नहीं होता यह सदैव विद्यमान रहता है। रूप बदल सकता है, नाम बदल सकता है, समय बदल सकते हैं, स्थान बदल सकते हैं किन्तु स्वरूप लक्षण नहीं बदलता। वेदान्त के ग्रन्थों में इसे अस्ति, भाति और प्रियम् कहा गया है। वस्तु "है", अस्ति। इसका अस्तित्व है। अस्तित्व नित्य सत्य है। समय और स्थान में यह

अपना रूप और नाम बदल सकता है किन्तु "होना" यथार्थ है। इसके अस्तित्व का ज्ञान हमें इसके दिखाई देने या प्रकाश लक्षण अर्थात् "भाति" द्वारा होता है। "भाति" के कारण ही वस्तु को जानते हैं। सभी वस्तुओं में यह लक्षण होता हैं प्रत्येक वस्तु में "प्रियम्" का लक्षण भी होता हैं अर्थात् उनकी उपयोगिता के कारण इनके प्रति आसक्ति और प्रेम जगाने की उनकी क्षमता।

ये तीनों लक्षण ईश्वर के स्वरूप हैं। इन तीनों के आधार पर मन में रूपों की रचना होती है और फिर रूपों के नाम रखे जाते हैं। किन्तु रूप और नाम परिवर्तनशील हैं। इसलिये इन्हें माया-सापेक्ष वास्तविकता कहा गया है। परमात्मा ही वह आधार है जिस पर रूप और नाम वाली हर वस्तु टिकी है। सत्य पर नाम और रूप की प्रतीति माया के कारण है।

मन के द्वारा नाम और रूप की रचना उस सत्य का तटस्थ प्रमाण है जिस पर वे बनती व अदृश्य होती रहती हैं। ब्रह्म को तभी जाना जा सकता है जब मूल लक्षण जाने जाएँ अर्थात् स्वरूप ज्ञान हो जाये। ब्रह्म को जान लेने पर मनुष्य स्वयं ब्रह्म बन जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।" यह श्रुति अर्थात् वेद का वचन है। वस्तुतः आधार और उस पर स्थित वस्तुएँ, प्रतीति और सत्य दोनों दिव्य हैं, ब्रह्म द्वारा उत्पन्न हैं। ब्रह्म जिज्ञासा द्वारा इस सत्य की अनुभूति हो जाना जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति है।

सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्— इन की तिपाई पर ब्रह्म स्थित है। ब्रह्म की अनुभूति सत्य की अनुभूति है। ब्रह्म का ज्ञान ही ज्ञान है। यह असीमित है। ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति हुई; आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी से जीवन (वनस्पति) का उद्भव हुआ, वनस्पति से अन्न और अन्न से पुरुष। सृजन की प्रक्रिया इस क्रम से हो रही है। प्रारम्भ में ब्रह्म, अन्त में पुरुष। अतः पुरुष और ब्रह्म घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं।

शास्त्र योनित्वात्

'शास्त्र योनित्वात्' : "ब्रह्म शास्त्रों का स्रोत है और इसलिये सर्वज्ञ है"। शास्त्र ऋषियों द्वारा सत्य की खोज करते हुए प्राप्त ज्ञान की अभिव्यक्ति हैं। इनके शब्दों की उत्पत्ति भगवत् प्राण (उच्छ्वास और निश्वास) से हुई हैं। वे किसी देहधारी से नहीं सुने गये और न किसी की कल्पना से निस्सृत हुए हैं। इसलिये इन्हें अपौरुषेय और शाश्वत कहा गया। वे किससे उत्पन्न हुए? उत्तर है, केवल ब्रह्म से।

वेद का अर्थ है— ज्ञान। ये सदा 'हैं'। इनका न आदि है, न अन्त। इन्हें 'अनन्त' कहा जाता हैं, क्योंकि ये ध्वनि हैं— पवित्र, पालक, कल्याणकर ध्वनि। इनका केवल अनुभव किया जा सकता है। इनका परिसीमन या वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः यह प्रत्येक मनुष्य के लिये व्यक्तिगत अनुभव की अद्‌भुत और अभूतपूर्व अवस्था है। ब्रह्म ही ऐसे ज्ञान का स्रोत है इसलिये इसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक कहा गया है।

"शास्त्र योनित्वात्"। यह सूत्र इस अर्थ की अभिव्यक्ति करता है कि ब्रह्म को जानने के लिये वैदिक ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यक है क्योंकि केवल वे ही ब्रह्म के रहस्य को प्रकट कर सकते हैं। सभी वेद मनुष्य को एक ही ज्ञान तक पहुँचाते हैं। शास्त्र अपनी प्रामाणिकता तथा अपना मूल्य ब्रह्म से ही प्राप्त करते हैं क्योंकि ब्रह्म ही इनमें निहित व प्रतिपादित ज्ञान का स्रोत है। केवल सर्वज्ञ ही वेदों का स्रोत हो सकता है। केवल शास्त्र ही उस ज्ञान के द्वारा मनुष्य को मुक्त कर सकते हैं। वे मनुष्य के जीवन का नियमन करते हैं व दुःख से रक्षा कर उसका पोषण करते हैं। वेद सुखद शिक्षा देते हैं। वे मनुष्य का स्नेहपूर्वक मार्गदर्शन कर उसका मार्ग प्रशस्त करते हैं क्योंकि वे ऐसे पूज्य ऋषियों के माध्यम

से प्राप्त हुए है जिन्होंने ब्रह्म रूपी सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि की।

ब्रह्म को प्रमाणों या तर्कों से नहीं समझा जा सकता। यह तर्क और गणना के परे है। अतः यह अप्रमेय है। इसे मापा नहीं जा सकता। यह अनिर्वचनीय हैं। इसका किसी आधार पर वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे समय, स्थान आदि से नहीं मापा जा सकता। शास्त्र प्रमाण हैं। सत्य के सामान्य प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमानगम्य होते हैं। किन्तु ब्रह्म को इन दो साधनों से नहीं जाना जा सकता। ऋषियों ने इसका अनुभव कर शास्त्रों में इसे व्यक्त किया है। शब्द ही सर्वोत्तम प्रमाण हैं। 'शास्त्र' का अर्थ है विस्मृत को स्मृति में लाने वाला। ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य का 'आत्म तत्व' हैं। शास्त्र मनुष्य का निर्देशन करते और उसे सम्मति देते हैं। किन्तु मनुष्य माया के वशीभूत हो जाता है तथा मिथ्या मूल्यों और 'मैं', 'मेरा' तथा असत् के प्रति आसक्ति से उत्पन्न अंधकार से एकाकार हो जाता है। किन्तु शास्त्र 'माँ' है; वह हार नहीं मानती। वह बारम्बार मनुष्य को लक्ष्य का स्मरण कराती है ताकि उसका कल्याण सुनिश्चित हो।

"शास्त्र योनित्वात्"। इस सूत्र का अर्थ है कि अगम्य, असीम, अनिर्वचनीय ब्रह्म की अनुभूति में शास्त्रों को कारण मानना चाहिये। शास्त्र असंख्य है किन्तु जीवन की अवधि अत्यन्त अल्प है। साधक अनेक हैं, संशय और भय बहुत है, लगन कम है। परिणाम स्वरूप कोई मनुष्य शास्त्रों पर पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता।

समुद्र का स्वाद जानने के लिये पूरे समुद्र को पीना आवश्यक नहीं हैं। एक बूँद जीभ पर रखने से उसका स्वाद जाना जा सकता हैं। इसी प्रकार शास्त्रों के सम्पूर्ण विषयों को समझ पाना असम्भव है। यदि एक महत्वपूर्व शिक्षा को हृदयंगम कर उस पर आचरण कर लिया जाए तो पर्याप्त है।

यह शिक्षा हैः ईश्वर का सतत चिन्तन। जैसा कि प्रह्लाद ने अपने पिता हिरण्यकशिपु को बताया था जब उसके पिता ने उसे स्नेह पूर्वक अपने पास बुलाकर पूछा कि उसने अपने गुरु से क्या सीखा था।

प्रह्लाद ने उत्तर दिया था: "मैने समस्त ज्ञान का सत्त्व सार जान लिया है।" पिता प्रसन्न था। उसने पुत्र से पुनः पूछा "मुझे वह सारभूत ज्ञान बताओ जो तुमने प्राप्त कर लिया है।" प्रह्लाद ने कहा, "पिताजी, जो समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है, जो अन्त में सभी का स्वयं में लय कर लेता है वह नारायण है, एकमात्र सत्ता। उन्हें सदा मन में रखने और उससे प्राप्त आनन्द की अनुभूति से सब का जीवन सफल होता है।" बालक ने नारायण का उच्चारण किया जिससे पिता को घृणा थी। इतना ही नहीं, उसने आगे कहा "पिताजी! आपने सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया है किन्तु आप अपनी इन्द्रियों को जीतने में असफल रहे हैं। फिर आप नारायण का अनुग्रह कैसे पा सकते हैं? ये भौतिक कुशलताएँ और सांसारिक उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं। केवल ब्रह्मविद्या का अनुशीलन करना चाहिए।

मनुष्य के लिये उस 'एक' को जानना, जो उसका सार-तत्व है, एक दुःसाध्य प्रक्रिया है। मनुष्य अन्न का सार-तत्व है। स्थूल शरीर भोजन से बना है। किन्तु, मनुष्य में एक सूक्ष्म शक्ति है, एक अन्तःस्पंदन है जिसे प्राण कहते हैं। मन (मानव) उससे भी सूक्ष्म है तथा मन से भी सूक्ष्म बुद्धि (विज्ञान) है। बुद्धि से भी सूक्ष्म आनन्दमय कोश है। जब मनुष्य अपने अन्दर के इस आनन्द क्षेत्र में निमग्न होता है तो उसे सत्य की, ब्रह्म की, अद्वैत की अनुभूति होती हैं। यह अनुभूति सर्वाधिक वांछनीय है।

तैत्तिरीय उपनिषद में ब्रह्मानन्द वल्ली के पश्चात् भृगु वल्ली में वरुण के पुत्र भृगु की कथा है। पुत्र को ब्रह्म तत्त्व की शिक्षा देते समय वे कहते हैं "वत्स भृगु! ब्रह्म नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। वरन् ब्रह्म ही नेत्रों को देखने और कानों को सुनने में समर्थ बनाता है। उसे केवल तप द्वारा जाना जा सकता है। अन्य कोई साधन सहायक नहीं हो सकता। उन्होंने आगे कहा, "प्रिय भृगु, जगत में प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से उत्पन्न होती है, ब्रह्म में स्थित रहती है, ब्रह्म से प्रकाशित होती है तथा केवल ब्रह्म

में ही लय होती है। तप द्वारा तुम स्वयं इसकी अनुभूति करो।" सत्य को जानने हेतु आध्यात्मिक साधना में प्रवेश का निर्देश देने से पूर्व पिता ने उसे केवल ये ही संकेत दिये। अपने पिता के वचनों में पूर्ण विश्वास के साथ भृगु तपस्या में रत हो गये। आत्म-संयम और आत्म-विवेचन की प्रक्रिया ने भृगु की चेतना का उन्नयन कर दिया और उस अवस्था में उन्होंने अन्न को ब्रह्म माना। जब उन्होंने इस निष्कर्ष को व्यक्त किया तो उनके पिता वरुण ने इसे गलत बताया। भृगु ने और तपस्या की तथा निष्कर्ष निकाला कि प्राण ब्रह्म है क्योंकि प्राण बिना अन्य सब व्यर्थ है। प्राण जीवन का कारण है, जीवन को संचालित करता है और जीवन का अन्त करता है। किन्तु पिता वरुण ने इस निष्कर्ष को भी गलत बताया तथा पुत्र से और तपस्या करने को कहा। भृगु ने तीसरी बार तपस्या की और मन (मानस) को ब्रह्म समझा और चौथी बार पुनः अपने निष्कर्ष में संशोधन कर बुद्धि (विज्ञान) को ब्रह्म घोषित किया। अन्त में पाँचवी बार तपस्या के पश्चात् उन्हें ज्ञान हुआ कि आनन्द ही ब्रह्म है। वे उस अनुभूति के आनन्द में स्थित हो गये और फिर पिता के पास नहीं आये। पिता ने ही उन्हें खोजा तथा उनके पास पहुँचे। उन्होंने भृगु की प्रशंसा की जिसने संसार को विस्मृत कर दिया था। उन्होंने कहा, "वत्स! अब तुम्हें ब्रह्म के दर्शन हो गए हैं। तुम उस दर्शन में विलीन हो गये हो।

मनुष्य अपना जीवन अन्नमय जीव के रूप में प्रारम्भ करता है किन्तु उसे आनन्द-स्वरूप हो जाने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है। न केवल मनुष्य अपितु प्रत्येक प्राणी अन्न से प्रारम्भ करता है और आनन्द के शिखर पर पहुँचने की उत्कण्ठा रखता है। सभी प्रयास, सभी कार्य आनन्द की प्राप्ति के लिए हैं। सभी प्राणी आनन्द से उत्पन्न हुए हैं, आनन्द के लिये जीवित रहते हैं और आनन्द की प्राप्ति के लिये मृत्यु का वरण करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार आनन्द ही जन्म, विकास, क्षय और मृत्यु की प्रेरक शक्ति है।

किन्तु ब्रह्म आनन्द कैसे हो सकता है? कहा गया है कि "ॐ

इत्येक इत्येकाक्षरम् अक्षरम् ब्रह्म" ॐ— यह एक अक्षर ही ब्रह्म है। जगत प्रणव अर्थात् ॐ का विराट स्वरूप हैं। यह भी कहा गया है कि "अयम् आत्मा ब्रह्म", यह आत्मा ब्रह्म है। इसलिये आत्मा, ब्रह्म व प्रणव तीनों में कोई अन्तर नहीं है। ब्रह्म विद्या की शिक्षा है कि प्रत्येक प्राणी की आत्मा ब्रह्म है। सूत्रों के अनुसार बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् एक हैं और दोनों में अन्तर नहीं किया जा सकता।

तत् तु समन्वयात्

तत् तु समन्वयात्। यह स्पष्टतः दृष्टि गोचर होता है कि सभी वैदान्तिक सिद्धान्त केवल ब्रह्म में स्थित हैं। श्रुतियों के वाक्यों का समन्वय भावना से अध्ययन ब्रह्म की अनुभूति कराता है तथा उसके स्वरूप का ज्ञान कराता है। प्रश्न है कि शास्त्र कर्म को सर्वोपरि मानते है अथवा ज्ञान को। यद्यपि ब्रह्म के गहन रहस्य का वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु किसी न किसी प्रकार से इसके स्वरूप के विषय में कथन करना होगा चाहे वह कितना ही अपूर्ण हो अन्यथा इसकी अनुभूति भी संभव नहीं होगी।

एक विचार धारा यह मानती है कि वेद में कर्म को मुक्ति का साधन बताया गया है और वेदान्त (उपनिषदों) में नहीं। परन्तु शास्त्रों का कार्य मार्गदर्शन करना और सम्मति देना है किसी विचार धारा का पक्ष लेना नहीं है। कर्म का समर्थन करना शास्त्रों का मुख्य लक्ष्य नहीं हैं। कर्म करते समय मनुष्य को अनेक पुण्य कर्म करने पड़ते हैं जो मन को निर्मल करते हैं। कर्म चेतना को शुद्ध करते हैं। अतः अनेक लोग तर्क करते हैं कि शास्त्र केवल कर्ममार्ग की शिक्षा देते हैं। वे भूल जाते हैं कि कर्म तो लक्ष्य प्राप्ति का साधन मात्र है।

इस सम्बंध में हमें एक और तथ्य पर ध्यान देना है। मनुष्य की इच्छाएँ, संकल्प, आकांक्षाएँ कर्मों द्वारा प्रेरित और वृद्धि को प्राप्त होती हैं। और कामना का प्रथम उत्प्रेरण अज्ञान है। स्वभावतः संशय उत्पन्न होता है कि अज्ञान स्वयं को ज्ञान में कैसे परिवर्तित कर लेता है? अंधकार स्वयं को कैसे दूर कर सकता है? इसी प्रकार अज्ञान स्वयं अपना नाश नहीं कर सकता। यह काम तो ज्ञान ही कर सकता है। यह बात शंकर (आदि शंकराचार्य) ने प्रतिपादित की है। संसार में सामंजस्य की आवश्यकता है और ज्ञान की भी उतनी ही आवश्यकता है चाहे ब्रह्म विद्या प्रदान करना कितना ही कठिन क्यों न हो।

कहा गया है कि ब्रह्मविद्या के प्रभाव और कर्म के प्रभाव में विशाल अन्तर है। यश और अप-यश, सुख व दुःख कर्मों के परिणाम हैं। कर्मों के द्वारा प्राप्य सुख मनुष्य लोक के स्तर से उच्चतम स्तर ब्रह्मलोक तक विस्तृत है। इसी प्रकार मनुष्यलोक से इतर लोक हैं जहाँ दुःख गहनतर एवं अधिक कष्टदायक होता जाता है। वे सापेक्षतया अवास्तविक हैं, पूर्णतः वास्तविक नहीं। अतः अनुभूति व आनन्द सहज स्वाभाविक है, अपनी ही सत्ता से अस्तित्व में है। यह बाह्य रूप में अस्तित्व में हैं। यह नित्य, निर्विवाद सत्य है। तप और साधना के अभ्यास से इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। मोक्ष की अवस्था देह-मन-अहं की सीमा से परे हैं। अतः यह स्थिति व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक प्रयास से परे है। जब बोध का उदय होता है तो अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है। जब दीपक जल जाता हैं तो फिर अंधकार नहीं रह पाता।

कुछ लोग तर्क करते हैं कि यह कहना उचित नहीं हैं कि ब्रह्म ज्ञान वैयक्तिक प्रयासों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। शंकर इस बात का समाधान पूर्वोक्त प्रतिपादन से करते हैं। यह ज्ञान कि मनुष्य वस्तुतः ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं, प्रत्येक मनुष्य की चेतना में निहित है किन्तु मनुष्य कर्म या क्रिया या विचार अथवा शास्त्रीय अनुसन्धान से इसे

पहिचान नहीं सकता तथा स्वयं को उसमें दृढ़ता पूर्वक स्थापित नहीं कर सकता। कर्म मनुष्य को और अधिक ही बाँध सकता है क्योंकि यह अनेकता को वास्तविक मानकर व्यवहार करता हैं। यह बन्धनों को शिथिल कर मनुष्य को मुक्त नहीं कर सकता। अधिक से अधिक यह वासनाओं और भावनाओं की शुद्धि कर सकता है। विचार अधिक से अधिक बुद्धि को स्वच्छ बना सकता हैं तथा ज्ञान की कसौटी बता सकता है। केवल ब्रह्मविद्या ही मनुष्य को बन्धन से मुक्त कर सकती है। अतः मनुष्य से कर्म के प्रति अधिक आसक्ति उत्पन्न न करने को कहा जाता है।

फिर भी हम शास्त्रों को कहीं-कहीं कर्मों के मूल्य की चर्चा करते पाते हैं। शास्त्र हमसे माँ की तरह स्नेह करते हैं। वे माँ की तरह बालक को उसकी बुद्धि तथा समय व परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा देते हैं। माँ अपने दो बच्चों में से एक को, जो कि स्वस्थ है, उसकी इच्छा के अनुसार हर वस्तु खाने को देती है किन्तु दूसरे बालक का जो कि स्वस्थ नहीं है, अत्यधिक ध्यान रखती है कि कहीं वह अधिक न खा ले तथा वे ही खाद्य पदार्थ देती है जो उसे स्वस्थ बना सकें। क्या हम माँ पर अपने बालकों में अन्तर करने या पक्षपात करने का आरोप लगा सकते हैं? शास्त्र भी उन लोगों का ध्यान कर्मों के महत्व की ओर खींचते हैं जो कर्म के रहस्य को जानते हैं क्योंकि कर्म जीवन को उन्नत कर सकता है और इसके आदर्शों को ठीक रख सकता हैं। प्रत्येक मनुष्य को कर्म को हितकर गतिविधि में बदलने की शिक्षा मिलनी चाहिए। परन्तु कर्म ही सब कुछ नहीं हैं।

मानव जीवन क्षण भंगुर है। यह पानी का बुलबुला हैं। जीवन के इस क्षणिक बुलबुले पर मानव अपने लिये इच्छाओं व आसक्तियों का भवन खड़ा करता है। ज्ञान उसे चेतावनी देता है कि यह किसी भी क्षण ध्वस्त व टुकड़े-टुकड़े हो सकता है। अनासक्त व निराकार परमात्मा ने शरीर धारण कर मनुष्य का रूप लिया है। स्थूल दृष्टि से शरीर अन्नमय

कोश है। इस कोश में प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा केन्द्र में आनन्दमय कोश हैं। यह सूत्र (तत् तु समन्वयात्) बताता है कि वैचारिक विवेचन अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक की यात्रा है। स्थूल के दो पक्ष हैं— स्वतंत्र आधार एवं परतंत्र आधेय।

मानवता के वर्तमान आध्यामिक चिंतन में कहीं समन्वय नहीं दिखाई देता। समन्वय व समाधान के तत्वों का विस्तार व उनकी व्याख्या की जानी चाहिये। यद्यपि अलग-अलग नामों वाले धर्म हैं तथा सिद्धान्त एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु मानव के रूप में सब मनुष्य एक हैं। सूत्र इस समानता पर बल देता है। दुर्भाग्यवश, धर्मों की भिन्नता ने मनुष्यों में सदभावना और अन्तर्राष्ट्रीय भातृभाव की भावना को समाप्त कर दिया है। जिन ऋषियों ने सृष्टि के रहस्य को उद्घाटित किया उनके अनुभव, ज्ञान और विश्व-जनीन प्रेम की भावना को आज महत्व नहीं दिया जाता, उसे स्वीकार नहीं किया जाता और न उसका आदर किया जाता है। कुछ को छोड़कर सभी धार्मिक विचारों में सरलता से समन्वय व समाधान किया जा सकता हैं। अनेक नामों से विभिन्न कर्मकाण्डों व रीतियों द्वारा विभिन्न धर्मों में एक ही ईश्वर की पूजा व अभ्यर्थना की जाती हैं। प्रत्येक युग में प्रत्येक जाति और समुदाय में शान्ति व सौहार्द की स्थापना के लिये ईश्वर ने पैगम्बरों को भेजा है। वर्तमान युग में कई धर्मों का संपूर्ण विश्व में विस्तार हो गया है और इससे उनके अनुयायियों में भातृभाव की कमी तथा इन धर्मों की प्रभावशीलता का ह्रास दिखाई देते हैं। सामन्जस्य की तुरन्त आवश्यकता है। सभी महापुरुष ईश्वर के रूप हैं। ईश्वर के साम्राज्य में उनकी एक जाति है, और वे एक ही राष्ट्र—दिव्य जगत् के नागरिक हैं। प्रत्येक मनुष्य को अन्य लोगों के धर्म व रीतियों को समझने में रुचि लेनी चाहिये। केवल तभी प्रत्येक व्यक्ति शुद्ध मन व प्रेमपूर्ण हृदय से दूसरों के साथ दिव्यत्व की उपस्थिति में रह सकता है। समन्वय सभी धर्मों व मतों का केन्द्र बिन्दु है।

ईक्षतेर्नाशब्दम्

वेदों के अनुसार ब्रह्म जगत् का मूल कारण हैं। वे किसी अचेतन को इसका कारण नहीं मानते। शब्द या वेद अचेतन के सृष्टि का कारण होने का समर्थन नहीं करते। सत् ने होने का निश्चय और संकल्प किया। निश्चय, संकल्प और रचना चेतना के कार्य हैं। अचेतन तत्व इस प्रकार के संकल्प कर सकने में अक्षम हैं। अतः ब्रह्म को जो कि सर्वचेतन है, मूल कारण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये।

अचेतन को प्रधान कहा जाता है। वेद इसकी चर्चा नहीं करते। यह सूत्र इसी बात को स्पष्ट करता है। कुछ विद्वान जगत को 'प्रधान' संज्ञा देते हैं। अन्य मत वाले इसे प्रकृति कहते हैं। कुछ अन्य लोग प्रशंसा में कहते है, "तुम सर्वसंकल्प हो, शुद्ध आत्मतत्व परमात्मा। तुम्हारे कारण ही समस्त अनेकता उत्पन्न हुई हैं।" कुछ लोग कहते हैं कि तीन गुण ही मूल तत्व हैं जिनमें परस्पर प्रधानता से प्रकृति में अनेकता उत्पन्न होती है।

ये विचार वैदिक प्रमाण पर आधारित नहीं हैं। वेदों का मानना हैं कि ब्रह्म ने संकल्प किया और सृष्टि उत्पन्न हुई। यह संकल्प ही मूल कार्य था। सांख्य मत में सृष्टि को गुणों पर आधारित माना जाता है। जब तक तीन गुण सत्व, रजस और तमस पूर्ण सन्तुलन व साम्यावस्था में रहते हैं कोई चेतन कार्य नहीं होता, ऐसा सांख्य दर्शन का कथन है। इस अवस्था को क्रियाशील करने के लिए उस पुरुष की आवश्यकता होती है जो साक्षी है, चैतन्य है अर्थात ईश्वरीय संकल्प की आवश्यकता होती है। इससे 'प्रधान' ज्ञाता व ज्ञेय हो जाता हैं।

इन सब सिद्धान्तों पर विचार करने के पश्चात् सबसे सही निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म ही मूल कारण हैं। परन्तु परम गम्य सत्य निर्गुण, निराकार, अकथनीय ब्रह्म नहीं है। वह तो सगुण ब्रह्म है। जो उसके द्वारा

स्वयं धारण किए गुणों द्वारा गम्य हैं। जड़ चेतन से बना यह जगत इस ब्रह्म का शरीर है जो इसने धारण किया है।

व्यक्ति को चैतन्य प्रदान करना पड़ता है ताकि वह इच्छा अनुसार कर्मों में रत या विरत हो सके। आज क्या करना है, कल पर क्या छोड़ना है, आने वाले वर्ष में कौन सी फसल उगानी है— ऐसे विचार, योजनाएँ व परियोजनाएँ केवल चेतन जगत् में उत्पन्न होती हैं जड़ वस्तुओं पत्थर, लकड़ी, पहाड़ या घाटी आदि में नहीं। संकल्प चैतन्य का लक्षण है। जिसमें यह नहीं है वह कदापि संकल्प नहीं कर सकता।

संकल्प होने पर ब्रह्म ईश्वर हो गया और उसी संकल्प मात्र से ईश्वर ने जगत की रचना की। स्थूल दृष्टि से ईश्वर व जगत भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि पदार्थ तथा परमार्थ, प्राणी और प्राण में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। प्राण तत्व स्वयं शरीर धारण कर लेता है और प्राणी के रूप में दिखाई पड़ता हैं और फिर प्राणी से प्राण निस्सृत होता है।

वैदिक ग्रंथ ब्रह्म तत्व तथा इसके प्रकट रूपों का विवेचन करते हैं। वे मनुष्य को ज्ञान विज्ञान और उसकी सहज अनुभूति प्रदान करते हैं। किन्तु कालान्तर में स्तोत्रों, श्लोकों व पवित्र मंत्रों की व्याख्या कर्मकाण्ड के रूप में की गई, उनकी स्तुति व व्याख्या लौकिक व पारलौकिक उद्देश्यों की प्राप्ति में उपयोगी होने के रूप में की गई। इनके उच्चारण के साथ सम्पन्न किये गये अनुष्ठानों को लाभ-दायक कर्म माना गया। जगत में ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं हैं। यह सब ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ब्रह्म में लय होता है और यह ब्रह्म में ही गतिशील और स्थित है।

'तज्जलात्' सूत्र से यह सत्य स्पष्ट हो जाता है। तत् (उससे).. ....ज (उत्पन्न हुआ)....ल (लय हुआ).... आत् (वृद्धि को प्राप्त होता है)। इन चार चरणों पर यह सिद्धांत आधारित और स्थापित है। जन्म, विकास और मृत्यु मिलकर पुरुष के यज्ञ बनते हैं।

जगत् (प्रपंच) परमात्मा अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। कहीं भी कोई

स्थान ऐसा नहीं है जहाँ इसका प्रकाश न हो। जगत् निरन्तर गतिशील है; जगत् का स्वामी (जगदीश्वर) इसका संचालक है। सांसारिक प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है; आत्मप्रेम इस प्रेम का मूल है। उपनिषद् बताते हैं कि यही उपदेश याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को दिया था "आत्मानस्तु कामाय सर्वम् प्रियम् भवति (यह आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय है)। आत्मप्रेम प्रथम है, अन्य वस्तुओं से प्रेम इसके बाद है। यदि एक व्यक्ति दूसरे से अनुराग करता है तो इसे प्रेम नहीं कहा जा सकता। आनन्द की प्राप्ति के लिए ही आत्मा प्रेम करता है। अनुराग आत्मा से परमात्मा की ओर प्रवाहित होता है। अतः जब आत्मिक सत्य को स्रोत के रूप में समझ लिया जाता है तो हम जान सकते हैं कि यह सब ब्रह्म चैतन्य के द्वारा होता है।

चर और अचर दोनों दैवी संकल्प का परिणाम हैं। वह संकल्प चेतन है, अचेतन नहीं है। ईक्षतेर ना शब्दम्— यह सूत्र इसी सत्य को प्रकट करता है।

कोई मनुष्य कितने भी तर्क वितर्क करे, यह सत्य अटल है कि दैवी संकल्प सभी वस्तुओं का मूल है। ऐसे मनुष्य या तो बाहरी दिखावे से भ्रमित हैं या वे गहन विवेचन को छोड़कर अपनी मान्यताओं के लिए सहारा खोजने का प्रयास करते हैं।

मानव देह आत्मा का आलंबन है। जल, वायु आदि तत्व देह के अभिन्न अंश हैं। अतः आत्म तत्व ब्रह्म या तत्व जो वास्तविक तत्व है, नहीं जाना जाता। मनुष्य ने इस तत्व की अनुभूति खो दी है। यह शरीर *में* है किन्तु शरीर *का* नहीं है। यह अ-शरीर तत्व है, अर्थात ऐसा तत्व जो शरीर में सक्रिय रहते हुए भी शरीर का नहीं है। यह आत्मा है।

नेत्रों को देखने की व कानों को सुनने की क्षमता आत्मा द्वारा प्रदान की गई है। फिर नेत्र आत्मा को कैसे देख सकते हैं या कान कैसे सुन सकते हैं? नेत्र व कान आधेय हैं। सर्व चैतन्य, ब्रह्म-तत्व, आत्मा आधार है। वही वास्तविक 'तुम' हो, संकल्प हैं।

जगत के पंच तत्व आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी प्रज्ञान

द्वारा परिचालित तथा कार्यरत हैं। देवता भी इसी प्रज्ञान की शक्ति से प्रकाशमान होते हैं। समस्त प्राणि जगत इसी प्रज्ञान द्वारा जीवित रहता है। स्थावर और जंगम् दोनों प्रज्ञा पर आधारित हैं। प्रज्ञान ब्रह्म है, आत्मा है। प्रज्ञान लोक अर्थात दृश्य जगत है। सम्पूर्ण जगत् प्रज्ञा है। प्रज्ञा ही वह चैतन्य है जो प्रपंच अर्थात जगत् में व्याप्त है।

वेद 'सत्' शब्द के प्रयोग द्वारा ब्रह्म को जगत् का कारण बताते हैं। सत् तो नित्य चैतन्य 'है' है। वेद किसी भी अचेतन वस्तु की चर्चा नहीं करते। सब चेतन है, सब है, सब ब्रह्म है।

गौणश्चेत्-न-आत्मशब्दात्

"आत्म शब्दात्": चूँकि 'आत्म' शब्द का प्रयोग होता है अतः "ईक्षते" (पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट) या प्रकाशन आत्मा का ही कार्य है। अग्नि या जल परिणाम है, संकल्प का प्रभाव हैं। श्रुति या वेद में केवल आत्मा को ही मूल तत्व कहा गया है। इच्छा या संकल्प स्वयं आत्मा में होने वाली घटना है किसी अन्य तत्व में नहीं। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् केवल 'सत्' था। समय की प्रक्रिया में और विराट परिधि में जो भी रूप इसने ग्रहण कर लिया है वस्तुतः वह सब केवल 'सत्', अर्थात आत्मा ही है। यही वेदों की शिक्षा है।

कुछ भी जड़, निष्क्रिय नहीं है। क्योंकि हम पाते हैं कि कभी-कभी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग प्रधान या मूल प्रकृति के लिये भी किया जाता है। 'प्रधान' वह उपकरण है जो परम चैतन्य या पुरुष के संकल्प को पूर्ण करता है। पुरुष के द्वारा, जो कि कारण है, संचालित होने से प्रकृति भी चैतन्य से युक्त मान ली जाती है। जीवी स्वयं को पूर्ण का अंश मानते हुए इच्छा व निराशा, प्रेम व घृणा, दुख व सुख का अनुभव करता है।

वह नाम व रूप के संसार के प्रति आकर्षित होता है। ऐसे व्यक्ति को बद्ध कहा जाता है। अतः उसकी मुक्ति की तुरन्त आवश्यकता है तथा मुक्त होने के लिये उसे प्रकृति पर निर्भरता तथा उसके प्रति आसक्ति का त्याग करना आवश्यक है। अन्धा अन्धे की रक्षा नहीं कर सकता। द्ररिद्र की सहायता द्ररिद्र नहीं कर सकता। द्ररिद्र व असहाय व्यक्ति दूसरे की गरीबी, कष्ट व पीड़ा को कैसे दूर कर सकता है? निर्धन को धनी के पास जाना होता है। अन्धे को दृष्टियुक्त का मार्गदर्शन लेना चाहिये। जो मनुष्य बद्ध हैं तथा प्रकृति के द्वन्द्व से अन्धे हो गये हैं उन्हें करुणा, शक्ति व ज्ञान के स्रोत दिव्य आत्मा का आश्रय लेना चाहिये। तब व्यक्ति शोक के दारिद्र्य से मुक्ति पा कर आनन्द की सम्पदा का भोग कर सकता है। मनुष्य मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य को पा सकता है।

ब्रह्म के अनुग्रह से इस पूर्णत्व की, आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। आत्मा को किसमें खोजा जाय? आत्मा का निवास कहाँ है? आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? तथाकथित चैतन्य विहीन वस्तुओं को आत्मा का प्रकट रूप मानकर उनकी पूजा करने से भी इस प्रक्रिया में सहायता मिलती है। आत्म तत्व को वास्तविक रूप में केवल उन्हीं जिज्ञासुओं द्वारा समझा जा सकता है, जो निराकार, निर्गुण ब्रह्म में स्थित हैं। किन्तु सगुण अवतार में भी आत्म सत्ता पूर्ण रूप में होती है। इस सत्य को समझने के लिये अनेक उदाहरण हैं। आत्मा को ब्रह्म तथा व्यष्टि को समष्टि के रूप में समझने का ही दूसरा नाम ब्रह्मविद्या है।

प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्म विद्या पाने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में प्रतिदिन इस अन्वेषण में चार अवस्थाओं में से होकर निकलता है। वेद के अनुसार ये है, जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था तथा चतुर्थ तुरीय अवस्था। इन्हें अवस्था या सोपान कहा गया है। प्रथम अवस्था में व्यक्ति भौतिक संसार के प्रति जाग्रत होकर बहिर्मुखी बना रहता है। जगत के पदार्थ आँखों से दिखाई देते हैं, ध्वनि सुनाई देती है, इन्द्रियाँ गन्ध, स्वाद व स्पर्श में समर्थ होती है। समाज के संसर्ग में जीवन

पूरी तरह जिया जाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, चार अन्तस्थ उपकरणः मन, बुद्धि या विवेक, चित्त और अहंकार— सम्पर्क व संयोजन के ये उन्नीस साधन मनुष्य को जाग्रत अवस्था में सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता-असफलता का स्थूल रूप में अनुभव कराते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति देहात्मभाव में रहता है और स्थूल देह को अपना स्वरूप मानता है, इसलिये अनुभव भी स्थूल ही होते हैं।

स्वप्न जगत् भिन्न है। वहाँ व्यक्ति अन्तर्मुख होता है। प्रतिक्रियाएँ, प्रत्युत्तर तथा अनुभव सब अन्तर्जगत में होते हैं। वे व्यक्ति से बाहर के नहीं होते। एक ही कमरे में दस व्यक्ति सो रहे हों किन्तु प्रत्येक का स्वप्न अलग होता है। एक के स्वप्न का किसी अन्य के स्वप्न से कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही स्वप्न से चिंतित या प्रसन्न होता है। स्वप्न देखने वाला बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता। वस्तुतः बाह्य जगत व्यक्ति के चैतन्य को प्रभावित नहीं करता है। स्वप्नावस्था में व्यक्ति अपने मन में ही एक संसार की रचना कर उसके अनुभवों का चिंतन करता है। यद्यपि देखी गई वस्तुएँ काल्पनिक होती हैं किन्तु सुख व दुःख, प्रेम व भय आदि भावनाएँ व अनुभव जाग्रत अवस्था के समान वास्तविक होते हैं। संपर्क व संयोजन के उन्नीस उपकरण स्वप्न में भी उपस्थित रहते हैं। वे भौतिक स्तर पर कार्य नहीं करते; वे केवल मन के द्वारा कार्य करते हैं क्योंकि मन का प्रकाश चित्रों की रचना करता है। यही कारण है कि इसे तैजस् कहा गया है। तैजस् व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार किसी भी रूप, ध्वनि, स्वाद आदि की रचना करने में समर्थ बनाता है। जीव द्वारा स्वयं की अनुभूति प्राप्त करने के लिये स्वप्नावस्था द्वितीय सोपान है।

इसके पश्चात् सुषुप्ति है। यहाँ स्वप्न भी नहीं होते। व्यक्ति गहन निद्रा में चला जाता है। व्यक्ति में अपने अंगों या शब्द, गन्ध, रूप, रस व स्पर्श की चेतना नहीं रहती। समस्त गतिविधि मन में समाहित व इसी में निमग्न हो जाती है। समस्त अनुभव चेतना के उच्चतर स्तर प्रज्ञान में विलीन हो जाते हैं। पार्थक्य या एकात्म की, व्यक्ति या समष्टि की, अंश या पूर्ण

की कोई अनुभूति नहीं रहती। न कोई अनुभवकर्त्ता रहता है, न कोई अनुभव। केवल आत्मा होती हैं जिसमें वह अस्थाई रूप से समाया रहता है।

फिर तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्था है। इसमें व्यक्ति की सत्ता नहीं रहती। वह जीवन और सृष्टि के आधारभूत सत्य, सबमें व्याप्त और सब जिसमें व्याप्त है ऐसी आत्मा, शान्ति तथा अद्वितीय आत्मिक साम्राज्य की सत्ता को प्राप्त कर लेता है। जो इस अवस्था तक पहुँच जाते हैं उन्हें स्वयं की कोई सुध नहीं रहती। ऐसे लोग ज्ञान से युक्त हैं या नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वे तो सदा परम आनन्द में निमग्न रहते हैं।

जिस आत्मा में वे लीन हो गये हैं वह नेत्रों के लिये अदृश्य है। इसे हाथ से स्पर्श या पकड़ा भी नहीं जा सकता। केवल यही जाना जा सकता है कि इसका अस्तित्व है तथा यह सत्य, शिव और सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। बाह्य संसार की ओर आकर्षित करने वाली सभी लालसाओं को समाप्त करने पर ही आत्मा में विश्वास जड़ पकड़ सकता है।

आत्मिक चेतना के चार चरण ओम के उच्चारण में निहित चार चरणों के समान हैं। 'अ' 'उ' 'म' तथा अन्तिम मात्रा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं के समान हैं। जाग्रत और स्वप्न अवस्था में आत्मा मन में प्रत्यक्ष रहती है। सुषुप्ति में यह हृदय में रहती है। चतुर्थ अवस्था में केवल इसी की अनुभूति रह जाती है।

सारांश में कहा जा सकता है कि दैनिक जीवन की प्रत्येक अवस्था में सभी परिस्थितियों व दशाओं में तथा सभी क्रियाओं व अनुभवों में आत्मा सभी प्राणियों में विद्यमान है। सभी कुछ आत्मा है, आत्मा सब कुछ है। जगत् 'एक' के द्वारा उत्पन्न एक ही है। सूत्र यही बतलाता है। इस एकता की अनुभूति के बिना सुख व शान्ति नहीं हो सकती। सुख और शान्ति के बिना सत्य एक खोखला विचार है। अतः जगत् को पूर्ण जानना चाहिये। यह शून्य नहीं है। यह स्वयं आत्मा है।

हेयत्व–अवचनाच्च

कारण ज्ञात होने पर व्यक्ति सभी परिणामों को जान सकता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् पंचतत्वों से बना प्रपंच कहलाने वाला यह चराचर जगत् दिव्य संकल्प द्वारा प्रकट हुआ है। यह भगवत् संकल्प का परिणाम है जो कि कारण भूत है। कोई भी परिणाम किसी पूर्ववर्ती कारण के बिना नहीं हो सकता। कारण के दो पक्ष हैं, उपादान कारण तथा निमित्त कारण।

उपादान कारण मुख्य है; रचना से पूर्व का। यही सम्पूर्ण आधार है जिस पर परिणाम टिका रहता है। उदाहरणार्थ एक चाँदी का प्याला है। प्याले की चाँदी से अलग कोई सत्ता नहीं है। जब चाँदी, जिसे प्याले की आकृति दी जा सकती है, नहीं है तो प्याला भी नहीं है। चाँदी प्रमुख कारण है। अन्य शब्दों में रूप के 'बनने' से पूर्व वस्तु 'होती' है और यह आवश्यक है। प्याला वह रूप है जो निमित्त कारण द्वारा चाँदी पर आरोपित किया गया। यह कला का परिणाम है, कृत्रिम है। चाँदी पूर्ववर्ती कारण अर्थात उपादान कारण है। सुनार प्याला बनाता है। जब प्याला तैयार हो जाता है तो सुनार का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु प्याले व चाँदी का सदा के लिये घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सृष्टि, जगत्, ब्रह्माण्ड सब का मूल कारण ईश्वर है। वही सारभूत है, आधार है और उपादान कारण हैं। वह निमित्त कारण भी है। वह अमूर्त भी है और मूर्त भी। वह 'होना' और 'हो जाना' दोनों हैं। प्याले में चाँदी की भाँति जगत् परमात्मा ही हैं। वही इस प्रकार स्वयं को प्रकट कर रहा है। उसने यह सब बनने का संकल्प किया। प्रत्येक पदार्थ में वह परमार्थ, परम सत्य अन्तरस्थ है। इस परम सत्य के बिना किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। यह आश्चर्यजनक रहस्य मनुष्य की समझ

से परे है। उसकी बुद्धि इसे सुलझा नहीं सकती। अपनी विकृत दृष्टि (कुदर्शन) से वह केवल नाम, रूप, दृश्यमान को ही देखता हैं। वह भ्रम में मोहित हो जाता है। वह रुचियों और अरुचियों, सुख व दुःख, आशा व निराशा के थपेड़े खाता है। वह केवल विविध नामों वाली असत अनेकता को जानता है।

शुद्ध दृष्टि (सद्-दर्शन) से मनुष्य अनेक में एक को देख पाता है। यह अनेकता में एकता को प्रकट करता है और परमानन्द प्रदान करता हैं क्योंकि मनुष्य विविधता में निहित परातत्व को जान लेता है। इस अनुभूति की प्राप्ति, ब्रह्मत्व की उपलब्धि ही मोक्ष है। प्रत्येक प्राणी को इस परम लक्ष्य अर्थात ब्रह्म को प्राप्त करना है। यही उसका वास्तविक ध्येय है। किसी न किसी दिन, सुख-दुःख तथा 'मैं' और 'मेरे' के बन्धन से मुक्त होने की इच्छा जागेगी। उस समय अपनाया गया मार्ग अनिवार्य रूप से उसे मोक्ष तक ले जायगा। उस मार्ग का अन्वेषण करना बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण है।

इस अन्वेषण के स्थान पर जब मनुष्य दृश्य जगत् को ही सब कुछ मान लेता है और उसके प्रति आकर्षित होता है तो उसका जीवन निष्फल और व्यर्थ हो जाता हैं। प्रकृति पदार्थ स्वरूप है। मनुष्य को प्रकृति में निहित तत्व को बनाने वाले पुरुष के प्रति आकर्षित होना चाहिए। एक दरिद्र दूसरे दरिद्र से क्या पा सकता है? दूसरे को कैसे बंधन मुक्त कर सकता है? बंधन में पड़ा मनुष्य तो तभी मुक्त हो सकता है जब वह किसी मुक्त मनुष्य की सहायता ले। गहन शोक में डूबे व्यक्ति को आनन्द से पूर्ण मनुष्य की शरण में जाना चाहिए। बन्धन व्यक्ति को सदैव शोक ग्रस्त बनाता है। ईश्वर परमानन्द स्वरूप है। इसलिये व्यक्ति आनन्द के अक्षय स्रोत परमात्मा का आश्रय लेकर शोक से पूर्णतः मुक्त हो सकता है। मोक्ष वस्तुतः क्या है? मोक्ष दुःख से विमुक्ति और निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति है। परमात्मा अखण्ड आनन्द रस स्वरूप है, आनन्द निलय है। अतः उसका अनुग्रह चाहने

और पाने वाले नित्यत्व की प्राप्ति कर लेते हैं।

इस तरह प्राप्त नित्यत्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध की इन्द्रिय अनुभूतियों के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसका न आदि है और न अन्त। मनुष्य को इस नित्यत्व की प्राप्ति हेतु धीरे-धीरे सतत प्रयास करना चाहिये। उसे निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर, तथा सूक्ष्म से कारण की ओर तथा कारण अवस्था से अन्ततोगत्वा उसे महा कारण में विलीन हो जाना चाहिये। आध्यात्मिक यात्रा का यही क्रम है।

परन्तु सामान्य मनुष्य भौतिक सुख व बाह्य आनन्द की प्राप्ति के लिये संघर्ष करते हैं। वे उस आनन्द के लिये प्रयत्न नहीं करते जो आत्मा प्रदान कर सकती है। वे उसकी अनुभूति के महान अवसर को खो देते हैं और इस हेतु समुचित प्रयास भी नहीं करते। सदैव उनका ध्यान बाह्य संसार की ओर लगा रहता है। वह अन्तर्मुखी नहीं होता। "पश्यति इति पशुः"। जो (बाहर) की ओर देखता है वह पशु है। बाहर की ओर देखना पशु का लक्षण है, मनुष्य का नहीं। मानव शरीर में आँख, नाक, जीभ इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं ताकि वे बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि शारीरिक तृष्णा, देहदृष्टि आदि सब कुछ बाह्य जगत का है।

अन्तर्जगत् मनुष्य के लिये इतना सहज-गम्य नहीं हैं जितना बाह्य जगत। लाखों में कोई एक मनुष्य अन्तर्दृष्टि द्वारा इस आत्मसत्य से सम्पर्क कर उसे जान पाता है। वही ज्ञानी है। मानव जीवन के सच्चे ध्येय के भाव सहित उत्पन्न मनुष्य को मूलभूत नित्य आनन्द के लक्ष्य की प्राप्ति करनी है। यही परम उपलब्धि जीवन को सार्थक व अर्थपूर्ण बनाती है।

वस्तुतः बाह्य और अन्तर्जगत पृथक या परस्पर दूर नहीं हैं। वे अनन्य रूप से परस्पर गुँथे हुए हैं। मनुष्य समझता है कि वह देह द्वारा देखता, सुनता, अनुभव करता और प्रसन्न होता है। नहीं, एक अन्य शक्ति है जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन व उनका नियमन करती है। वह शक्ति आत्मा है। सूत्र मनुष्य को इस सत्य को जानने और इस

ज्ञान के प्रकाश में इन्द्रियां, मन व बुद्धि द्वारा संसार से सम्पर्क करने का निर्देश देते हैं।

पर्वत मालाओं पर होने वाली वर्षा का जल अनेक घाटियों में आकर नालों में बहता हैं। वही वर्षा का जल झीलों या नदियों पर बरसकर स्वच्छ और निर्मल बना रहता है। अपने आत्म-सत्य के बोध से युक्त ऋषि समभाव तथा उदारता रूपी निर्मलता से परिपूर्ण हो जाते हैं। वे निरन्तर आत्म बोध का अनुभव करते हैं। ऐसे मनुष्यों की विशुद्ध चेतना में आत्मभाव की अनुभूति रहती है। ऐसी स्थिति को प्राप्त मनुष्य को रुचि व अरुचि, मैं और मेरे की भावना, चिन्ता व निश्चलता, स्तुति में प्रफुल्लता व निन्दा में खिन्नता आदि भाव विचलित या दूषित नहीं कर सकते। ये द्वन्द्वात्मक भाव सन्तुलित हो कर आत्म चैतन्य में उत्पन्न लहरों के रूप में समभाव से स्वीकार होते हैं। यही वास्तविक आत्मभाव या ब्रह्म दृष्टि या एकात्म दर्शन है।

स्वाप्ययात्

'स्व' का अर्थ है 'स्वयं में' अर्थात् 'ब्रह्म में'। 'अप्ययात्' का अर्थ है 'क्योंकि यह लय होता है'। ये दो शब्द यही अर्थ प्रकट करते हैं। वे कहते हैं "चूँकि कहा जाता है कि जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है" तो गहन स्वप्नरहित निद्रा में जीव अपने वास्तविक स्वरूप सत् में स्थित रहता है। चूँकि जीव अपने स्वरूप को अर्थात आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है, अतः यह आत्मा ही है, अन्य कुछ नहीं। नाम और रूप में लिपटी प्रतीत होने वली आत्मा नाम और रूप को त्याग कर परम आत्मा में विलीन हो जाती है। लहर समुद्र में मिल जाती है। यह लहर 'हो गई' थी। अब यह केवल सत् (जल) है।

सभी वेदान्तिक ग्रन्थों व उपदेशों का सार यह सत्य है: (१) ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान कारण होनों है जो लय होता है और उत्पन्न होता है ('ज' और 'ग')। (२) ब्रह्म एक और केवल एक है और इसलिये जगत् में ब्रह्म या चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। शास्त्रों (श्रुति) व वेदान्त ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्म सत् ही नहीं अपितु चित् अर्थात् चैतन्य भी है।

प्रत्येक प्राणी के लिये निद्रा बहुत आवश्यक है। निद्रा के बिना मनुष्य या अन्य प्राणी जीवित नहीं रह सकते। संसार के सभी सुखों में निद्रा सबसे लाभदायक है। शेष सब नीरस, अस्थाई और व्यर्थ हैं। जब प्राणी सोता है तो पाँच श्वास प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पंच अग्नियों के साथ शरीर में कार्य करते रहते हैं और ऊष्मा प्रदान करते हैं। श्वास और निःश्वास शांत रूप से चलते रहते हैं। प्राण वायु 'आहवनीय अग्नि' (पवित्र अग्नि, जो निरन्तर घर में प्रज्ज्वलित रहती है।) के समान कार्य करती हैं। यह उसी प्रकार अनवरत रूप से हमें शक्ति प्रदान करती है। व्यान वायु दक्षिणाग्नि के समान है जो वैदिक यज्ञ वेदी के दक्षिणी भाग में प्रज्ज्वलित की जाती है। उदान वायु मन को ब्रह्म-लोक तक पहुँचने में सहायता करती है जिसे पाने का अधिकार मनुष्य अपने कर्मों से अर्जित करता है। अन्य शब्दों में यह मनुष्य को परमतत्व में विलीन होने के आनन्द का अनुभव करने में समर्थ बनाता है। क्योंकि जो निद्रा में विश्राम करने वाला, निद्रा में सुख पाने वाला, निद्रा से प्रफुल्लित होने वाला तथा निद्राकाल में आनन्द प्राप्त करने वाला जीवी है, वह आत्मा है। जीवी देह रूपी देवालय में प्रतिष्ठित देवता है। जीवी उस सबकी अनुभूति करता है जो मन द्वारा बाह्य संसार में सुना व देखा जाता है। साथ ही यह उस सबके प्रभाव की भी अनुभूति करता है जो यह देख नहीं सकता, सुन नहीं सकता या मन द्वारा जिसका अनुभव नहीं हो पाता।

इसके अतिरिक्त जीवी पूर्वजन्मों के अनुभवों की स्वप्न में रचना

करके उनका अनुभव भी कर सकता है और देख सकता है। यह मनुष्य के मन पर पड़े कर्मो के प्रभाव पर निर्भर करता है। अथवा कभी-कभी ऐसा हो सकता हैं कि व्यक्ति एक क्षण में शरीर व इन्द्रियों के प्रति आसक्ति का त्याग कर अपने मूल तत्व परमात्मा में लीन हो जाय। जीवी को प्राप्त आनन्द ही परमात्मा का प्रमाण है। स्वप्न विहीन निद्रा में जीवी उदान वायु द्वारा आनन्द लोक में प्रवेश कर आनन्दित होता है। इसे ब्रह्म लोक के नाम से भी जाना जाता है। इस अवसर को मनुष्य निद्रा में अनायास पा लेता है। यह उस परमात्मा के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करने का अवसर है जो पाँच मूल तत्व पंचभूत, पंचेन्द्रियों तथा अन्तःकरण का स्रोत है।

किन्तु यह अनुभव स्थायी नहीं होता। यह अस्थायी है। मन के निर्मलीकरण तथा बुद्धि के शुद्धिकरण द्वारा अनुभूति करने वाला मनुष्य परमात्मा में लीन होने का स्थायी आनन्द प्राप्त करता है। वही केवल सर्वज्ञ हो सकता है जो सदा अक्षर परब्रह्म परमात्मा में लीन हो अक्षय लोक में विचरण करता है। जब वह जान जाता है कि सब कुछ वही है तथा उसके बिना कुछ भी नहीं है या उसके बाहर कुछ भी नहीं है तो वह सब कुछ या ब्रह्म हो जाता है।

गहन निद्रा में जीवी तमोगुण की अवस्था में रहता है। ज्ञानी मनुष्य को स्वप्न से भी उतना ही आनन्द मिलता है जितना जाग्रत अवस्था में चैतन्य से। जाग्रत अवस्था में भी ऐसा मनुष्य देह-इन्द्रिय-तर्क की सीमा से मुक्त हो जाता है और अपने आत्म-सत्य के आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। जीवात्मा विराट चैतन्य की अनुभूति करती है और यह केवल उसी परम-आत्मा में विलीन हो सकती है। अतएव यह सूत्र इस बात को स्पष्ट करता है कि 'सत्' या 'होना' परब्रह्म का, परम चैतन्य का ही वाचक है न कि उससे निस्सृत या उस पर निर्भर किसी अन्य तत्व का।

श्रुतत्वात् च

वेदों द्वारा सर्वज्ञ ब्रह्म को सृष्टि का कारण बताया गया है इसलिये इस अलौकिक विषय की व्याख्या की गई है व इसे समझाया गया है। ब्रह्म शब्द से यही अर्थ प्रकट होता है कि इसमें संकल्प आदि की शक्ति है। वेद ब्रह्म को निर्विशेष व निर्गुण बतलाते हैं। वेद ब्रह्म का स्वरूप पूर्ण कल्याणकारी व हितकारी भी बतलाते हैं। जगत की दृष्टि से ब्रह्म गुणातीत है।

उपनिषद् ब्रह्म व ईश्वर में कोई अन्तर नहीं बतलाते हैं। वेदान्त के इन सभी ग्रन्थों से यह समझना चाहिए कि जगत् परम चैतन्य का प्रकट रूप है। इसके विपरीत जब जगत् को जड़ व चैतन्य-शून्य माना जाता है तो फिर यह पूछा जा सकता है कि जगत इतना सम्मोहक और आकर्षक क्यों है? यह निर्जीव और जड़ नहीं हो सकता क्योंकि यदि यह ऐसा होता तो सदा एक सा बना रहता। नहीं, यह विचार दृष्टि ठीक नहीं है। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। वह स्वयं यह सब बन गया है। वही अन्तस्थ और बाह्य सत्य है। ऐसा प्रकाश जो प्रकाशित करता है, आकर्षित करता है और प्रकट करता है।

"पिष्टादि गुड़ सम्पर्कात्" ऐसा कहा गया है। 'पिष्ट' का अर्थ है 'आटा' : कोई भी आटा, चावल, गेहूँ या दाल का। गुड़ के सम्पर्क से आटा मीठा हो जाता है। खाली आटा जीभ को नहीं भाता। शक्कर उसे स्वादिष्ट बना देती है। इसी तरह जगत् में जहाँ भी सौन्दर्य, आकर्षण या भव्यता प्रकट हैं वह परम-आत्मतत्व का ही प्रमाण है। श्रुति इसे अच्छी प्रकार स्पष्ट करती है। जैसा कि श्रुति कहती है, परम आत्मा ही जगत् का सृजन, लालन-पालन तथा पोषण करता है और अन्त में जगत को परम-आत्मा में लीन होनेके लिये प्रेरित करता है। परमात्मा ही एक मात्र

स्रष्टा, एकमात्र भोक्ता, एक मात्र रक्षक और स्वामी है। यह श्रुति का कथन है।

श्रुति के अनुसार ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। आत्मा के निवास के संदर्भ में मुनियों में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश की चर्चा है। इन के बाद सबसे भीतरी आनन्दमय कोश है। ये सब ब्रह्म में हैं और इसलिये यह निष्कर्ष उचित है कि ब्रह्म स्वयं आनन्द है। प्रत्येक कोश उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्म है और सबसे सूक्ष्म आनन्दमय कोश है। प्राणमय अन्नमय से सूक्ष्म, मनोमय प्राणमय से, विज्ञानमय मनोमय से और आनन्दमय विज्ञानमय से सूक्ष्म हैं। इसलिये इन सबको ब्रह्म की 'देह' या 'उपाधि' माना जा सकता है।

अन्नमय कोश स्थूल आवरण है जो कम स्थूल आवरण प्राणमय कोश की रक्षा करता है। प्राणमय कोश अपने से कम स्थूल मनोमय कोश द्वारा निर्देशित होता है। मनोमय कोश प्राण को नियंत्रित करता हैं। प्राण शारीरिक व ऐन्द्रिक उपकरणों का नियमन व संचालन करते हैं। इसलिये मनोमय कोश श्वास या प्राण से अधिक सूक्ष्म है। इससे सूक्ष्म विज्ञानमय कोश है। यह सदा नित्य और अनित्य के मध्य अन्तर करता रहता है। यह आनन्द की अनुभूति के अत्यन्त निकट है। वस्तुतः यह उस अनुभव को करने में सहायता करता है जो कि स्वयं ब्रह्म है।

शरीर की रोग से रक्षा के लिये हम विभिन्न प्रकार के वस्त्र पहनते हैं— पहले बनियान, फिर कमीज, उसके ऊपर कोट और कोट के ऊपर शाल। हृदय की जाँच के लिए शाल को हटाना होता है। कोट और कमीज को उतारना पड़ता है और बनियान को भी निकाल देना पड़ता है। तभी हृदय की जाँच की जा सकती है। इसी प्रकार परम-आत्मा या ब्रह्म जो कि स्वयं आनन्द है, की अनुभूति के लिये अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों या उपाधियों को हटाना पड़ता है। 'जीवन' नामक यात्रा अन्नमय से आनन्दमय तक की तीर्थ यात्रा है। यही लक्ष्य है, इति है। सूत्र हमें यही सत्य बतलाता है। परम आत्मा

अनिवार्यतः आनन्द स्वरूप है।

कुछ लोग इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। वे जीवात्मा को आनन्द की स्थिति में नहीं रख कर विज्ञान अर्थात बुद्धि की विवेक शक्ति में स्थित मानते हैं। ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। इसे किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। यह तेजोमय है। अन्य लोगों का कहना है कि पराशक्ति ही आनन्दमय या परम आत्मा के नाम से जानी जाती है तथा इसे परा आकाश का नाम भी दिया गया है। विभिन्न स्तर पर चिंतकों की भिन्न-भिन्न चिन्तन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ये विचार प्रतिपादित हुए हैं। ब्रह्म में सब कुछ समाया है तथा किसी भी तत्व की अनुभूति ब्रह्म की ही अनुभूति है। इसमें अन्तर या विभाजन नहीं किया जा सकता। आनन्द ही सब कुछ है। आनन्द ब्रह्म है। जीवात्मा भी है जो व्यष्टि के रूप में प्रकट है। गुण को उस वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता जिस वस्तु में वह गुण विद्यमान है। आत्मा आनन्द है चाहे समष्टि रूप में परमात्मा या व्यष्टि रूप में जीवात्मा। आनन्द को कम या अधिक के रूप में नहीं नापा जा सकता। आनन्दमय का अर्थ स्वयं आनन्द है न कि आनन्द से युक्त कोई वस्तु। अतः जीवात्मा कम आनन्द या परमात्मा अधिक आनन्द नहीं है। दोनों वही आनन्द हैं।

सामान्य सांसारिक अर्थ में भी आनन्द प्रत्येक प्राणी का लक्षण है। फलस्वरूप प्रत्येक मनुष्य इसकी अभिव्यक्ति और विकास करना चाहता है। विभिन्न प्राणी आनन्द की प्राप्ति के लिये अनेक इच्छाओं तथा आचरण-शैलियों का त्याग करते देखे जाते हैं। किन्तु यह विश्वास कि आनन्द बाह्य पदार्थों से प्राप्त किया जा सकता है, अज्ञान का लक्षण है। "सर्वम् परवशम् दुःखम्" बाहर जो कुछ भी हैं, दुख है। "सर्वम् आत्मवशम् सुखम्" भीतर जो कुछ है, वह सुख है। अर्थात जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका आनन्द बाह्य पदार्थों पर निर्भर है तो वह अपने स्वरूप से दूर होकर शोक को निकट आमंत्रित करता है। यह मानकर कि वे पदार्थ उसे सुखी बना देंगे, वह उनका दास बनकर व्यर्थ

में दुःख झेलता है। वह भय और चिन्ता का लक्ष्य बन जाता है। अतः बाह्य पदार्थों या गतिविधियों से आनन्द प्राप्त करने का प्रयास निरर्थक है। वास्तविक आनन्द के आकांक्षी मनुष्यों को अपने प्रयास अन्तर्मुखी अर्थात आत्मा से संलग्न करने होंगे। जब आनन्द को बाह्य पदार्थों में पाने का प्रयास होता है तो व्यक्ति को बहुत दुःख उठाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्यास से व्याकुल व्यक्ति मृग मरीचिका की ओर भागता है। उसे जल नहीं मिलता और उसका दुःखद अन्त होता है।

क्या दरिद्र और अज्ञानी व्यक्ति किसी को धनवान या विद्वान बना सकता है? यह सम्भव नहीं है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। अतः प्रत्येक चेतन वस्तु ब्रह्म से आनन्द प्राप्त करती है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। इसलिये वह सब में ज्ञान प्रदान करता है, सबमें ज्ञान की जिज्ञासा और वृद्धि करता है। ईश्वर आनन्द का प्रदाता और प्रवर्तक है। यह बात "आनन्दमयोभ्यासात्" सूत्र से भी स्पष्ट होती है।

मान्त्रवर्णिकम् एव च

"सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म"। यह मन्त्र भी उसी आनन्दस्वरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में है। ब्रह्म अनन्त है। सत्य आनन्द का पर्याय है। इसका अन्य कोई अर्थ नहीं है।

सत्य से आशय अविभाज्य व अपरिमेय आनन्द से है। यह स्थान या समय की सीमाओं से या अनुभवकर्त्ताओं की परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों से प्रभावित नहीं होता। आनन्द स्वयं समय, स्थान और व्यक्ति को पवित्र कर देगा। ये तीनों आनन्द के अधीन है। आनन्द इन तीनों के अधीन नहीं है। यह समय, स्थान व ग्रहणकर्त्ता व्यक्ति के अधीन नहीं है। इसलिये ईश्वर, जिसकी विशेषताएँ और लक्षण इस मन्त्र में बताए गए हैं, इस मन्त्र के द्वारा केवल अंशतः ही जाना जा सकता है। वह मन्त्र को सीमित नहीं करता। ईश्वर की व्याख्या में मंत्र की क्षमता सीमित हो सकती है। आनन्द वह डोर है जो दोनों को बाँधती है।

ज्योतिश्चरणाभिधानात्

ज्योति से आशय पार्थिव संसार के भौतिक प्रकाश से नहीं है। जब चरण आदि गुणों व भौतिक सीमाओं का ज्योति पर आरोपण किया जाता है, तो अन्तरस्थ सर्वत्र व्याप्त सत्ता को कैसे बताया जा सकता है? ऐसा सीमित और मर्यादायुक्त गोचर पदार्थ कैसे पूजा व ध्यान का विषय बन सकता है। जब इस 'ज्योति' शब्द का अर्थ इस रूपायित व कतिपय प्राकृतिक विशिष्टताओं से युक्त प्रकाश से लिया जाता है तो यह ब्रह्म ब्रह्माण्डीय स्वयम्भू को सूचित नहीं कर सकता।

पुरुष-सूक्त में कहा गया है: "पादोस्य विश्वभूतानि"। "अपने संघटक तत्वों सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसकी महिमा के केवल एक चौथाई के बराबर है।" इसलिये यह सीमाओं, परिमाण और मात्राओं से परे है। ज्योति स्वर्ग और उससे भी परे को आलोकित करती है और ब्रह्म को भी प्रकट करती है। जो प्राणियों के उद्भव से पूर्व के काल तथा दूर तक और उच्चतम लोकों का भी अपने तेज से ज्ञान कराता है उसे 'ज्योति' शब्द से सूचित किया जाता है। वह ज्योति श्रेष्ठतम लोक में प्रकाशित है।

यह भी जान लो कि वही ज्योति सर्वत्र सदैव और सभी प्राणियों में प्रकाशित है। इसमें अस्ति (सत्, अस्तित्व) भाति (चित, ज्ञान) और प्रिय (आनन्द) सम्मिलित है। ब्रह्माण्ड में जो भी दृश्यमान वस्तुएँ है उनका आधार अदृश्य है। इसीलिये प्रत्येक जीवित प्राणी का एवं स्वयं इस जगत का आधार अदृश्य ब्रह्म है। यही वह स्वयंभू परब्रह्म है जो जगत् के प्रकाशित होने का कारण है।

ज्योति शब्द इस प्रकाश के लिये उपयुक्त है। ज्योति का न कोई आदि है न अन्त। यह परम ज्योति, अद्वैत और अखण्ड है। अन्य शब्दों में यह स्वयं परब्रह्म है क्योंकि सब कुछ उसी में और उसी से प्रकट है।

यहाँ जिस ज्योति से आशय है, उसकी व्याख्या किसी अन्य प्रकार से नहीं की जा सकती है। उपनिषदों में ब्रह्म को चरणों से युक्त कहा गया है, किन्तु यह वर्णन ब्रह्म की विशालता को किसी भी तरह से अवरुद्ध या कम नहीं करता।

अतः ज्योति का अर्थ ब्रह्म है। जब ब्रह्म के चार चरणों की कल्पना की जाती है तो ब्रह्म के द्वारा जो कुछ प्रकाशमान होता है, वह एक चौथाई है। उपनिषदों के अनुसार अन्य तीन चरण 'दिवि' (दिव्य ज्योति) में अमृत है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि ऐसे 'अमृत' की तुलना उस सामान्य प्रकाश से नहीं की जा सकती जो हमारे व्यवहार में आता है। उपनिषदीय ज्योति ज्ञान को प्रकाशित करती है (दीप्यति) है। इस प्रक्रिया को सामान्य सांसारिक प्रकाश के प्रभाव तक कैसे परिसीमित किया जा सकता है? ज्योति ब्रह्म में स्थित है; यह केवल ब्रह्म में ही और ब्रह्म से ही संचालित होती है। ब्रह्म सबमें अन्तरस्थ है और इसलिये ज्योति सबको प्रकाशित करती है तथा सबमें प्रकाशित होती है।

नित्य स्पन्दनशील, नित्य गतिशील जगत् ब्रह्म है; स्थिर, स्थायी अचल, नित्य, अविचल ज्योति है। जब ब्रह्म भी स्पन्दन करने लगता है, परिवर्तित व गतिशील होने लगता है तब प्रलय होती है। उदाहरणार्थ जब रेलगाड़ी के साथ पटरी भी चलने लगे तो यात्रियों का क्या होगा? जब हम चलते हैं तो सड़क स्थिर रहती है। इसीलिए हम उस पर सुरक्षित आगे बढ़ पाते हैं।

एकाकी प्रकाश को दीपक की लौ कहते हैं। जो सभी को प्रकाशित और दृश्यमान करता है उसे ज्योति कहते हैं। यह ज्योति ही अग्नि को प्रकट करती है जो जगत में व्याप्त है। वह शरीर को उष्ण करती है तथा उदर में रहती है व नेत्र में चमकती है। चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित है। ये सब गतिविधियाँ ब्रह्म से प्रेरित व प्रवर्तित होती हैं जो कि स्वयं ज्योति है। ज्योति तत्व है, संपूर्ण प्रकाश है।

प्राणस्तथानुगमात्

(प्राण ब्रह्म है, क्योंकि इसे इसी प्रकार जाना जाता है।) प्राण से आशय यहाँ उसके शाब्दिक अर्थ श्वास वायु नहीं अपितु ब्रह्म से है। प्राण का अर्थ प्रायः पंच प्राणों के अधिष्ठाता देवताओं इन्द्र, रुद्र, वायु आदि के रूप में भी किया जाता है। परन्तु यहाँ यह अर्थ भी उपयुक्त नहीं है।

एक बार प्रतर्दन नामक एक साधक इन्द्र के पास गया और उनसे उस तत्व के विषय में बताने की प्रार्थना की जो मनुष्य के लिए सर्वाधिक लाभकारी हो। इन्द्र ने उससे कहा कि वह परमेश्वर को जीवन जाने और उनका ध्यान प्राण के रूप में करे।

प्राण की परिभाषा करते हुए और उसकी महिमा की व्याख्या करते हुए इन्द्र ने उससे कहा, "इस प्राण को प्रज्ञात्मा के तुल्य माना जाता है (सा एष प्राण प्रज्ञात्मा)। यह आनन्द, अजर और अमर है (आनन्दो—अजरो—अमृतः)। अर्थात प्राण आनन्द स्वरूप है, अ-जर और अ-मृत है। यह शिक्षा है। ये ब्रह्म के लक्षण हैं, सामान्य अर्थ में प्राण के नहीं है। प्राण तो ब्रह्म को मन के लिए गम्य बनाने हेतु एक प्रतीक मात्र है।

वह कौन सा तत्व है जिसे मनुष्य को जानना और प्राप्त करना सर्वाधिक हितकारी है। ब्रह्म ही स्रोत, सार और पालक है। अतः इन्द्र द्वारा प्रयुक्त "प्राण" शब्द का अर्थ ब्रह्म ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। शब्द के स्थूल अर्थ को छोड़ना और सूक्ष्म अर्थ को पकड़ना है। सामान्यतया मनुष्य धन, सत्ता और कीर्ति को सबसे आवश्यक मानते हैं और इन्हें प्राप्त करने के लिए सभी साधन अपनाते हैं। इस प्रयास में मनुष्य अपने अमूल्य मानवीय गुणों को व्यर्थ नष्ट कर रहा है। जीवन की निर्धारित अवधि को व्यर्थ नष्ट करने के साथ-साथ वह अज्ञान के

अंधकार में डूबता चला जाता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप (सत्-स्वरूप) की उपेक्षा करता है और उसे विस्मृत कर देता है।

एक और प्रसंग में इन्द्र का कथन है, "केवल मुझे ही जानो" (माम् एव विजानीहि) अर्थात् "मुझे अच्छी प्रकार समझो, मेरी पूर्ण अनुभूति करो"। यहाँ इन्द्र कोई देहधारी देवता विशेष नहीं हैं। "प्राण" से आशय स्वयं इन्द्र से नहीं था। तर्क किया जा सकता है कि ध्यान का विषय प्राण या इन्द्र कोई भी हो सकता है क्योंकि इन्द्र प्राण है और प्राण इन्द्र हैः यह ब्रह्म नहीं हो सकता। यह निष्कर्ष सही नहीं है। प्राण का अर्थ केवल ब्रह्म है, और कुछ नहीं। "केवल मुझे जानो" इसे कुछ लोग श्रोता को यह निर्देश मानते हैं कि "उस ब्रह्म को जानो जो मेरी वास्तविकता है, मेरा सत्य है , मेरा हृदय है"। अतः इन्द्र द्वारा प्रतर्दन को शिक्षा देते समय प्रयुक्त शब्द से आशय ब्रह्म से है।

सामान्य सांसारिक अर्थ में प्राण और इन्द्र परस्पर संबद्ध हैं। आध्यात्मिक विवेचन में 'भूमा' (विराट) ब्रह्म को वर्णित करता है जिसका अर्थ है असीम, जगत से भी परे। टीकाकारों ने इन सूत्रों के सामान्य एवं गहन, दोनों अर्थों का विवेचन कर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि वे एक ही तत्व को बतलाते हैं। उनके अनुसार प्राण और ब्रह्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन दोनों में अविणा भाव संबंध हैं। अतः केवल ब्रह्म का ही चिंतन करना है, किसी अन्य का नहीं।

शास्त्र दृष्ट्या तु उपदेश वामदेववत् (उपदेश शास्त्र सम्मत है, जैसा कि वामदेव के संदर्भ में है)। ऋषि वामदेव के वचन शास्त्र-सम्मत हैं। उन्हें ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ)। तत्वम् असि (तुम वह अर्थात ब्रह्म हो)। प्रज्ञानम् ब्रह्म (ब्रह्म प्रज्ञान है)। अयम् आत्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है)। वामदेव ने इन शास्त्रोक्त उपदेशों पर चिंतन कर अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने "अहम्-ब्रह्मास्मि" के सत्य का ध्यान किया। जब इन्द्र कहते हैं कि "केवल मुझे जानो" तो वास्तविक मैं— ब्रह्म का अर्थ प्राण नहीं है। सत्य की अनुभूति से पूर्व वामदेव भी प्राण को इन्द्र का पर्याय

मान सकते थे। सत्यानुभूति के पश्चात् उन्होंने कहा, "अहम् मनुरभवम्" (मैं मनु था)। "सर्वात्मकम्" (मैं सब कुछ हूँ)। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान रखने के कारण इन्द्र ने ब्रह्म को प्राण के रूप में बताया। इसमें कोई असंगति नहीं है।

वास्तव में ब्रह्म को किसी भी रूप में वर्णित किया जा सकता है। क्योंकि सब कुछ ब्रह्म है (सर्वम् ब्रह्मम्)। सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म है (सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म)। अन्तः अनुभव की इन अभिव्यक्तियों के अनुरूप हर वस्तु ब्रह्म का प्रतीक और स्वरूप हो सकती है। सभी वस्तुएँ ब्रह्म का ही रूप हैं। आभूषणों के अनेक नाम, रूप ग्रहण करने के पश्चात भी स्वर्ण अपनी प्रकृति नहीं खो देता। दृश्य जगत् के अनेक नाम, रूपों, नाना प्रकार की विविधताओं से मनुष्य को भ्रमित नहीं होना चाहिए। अनेकता में निहित वास्तविकता को जान लेने पर ब्रह्म को आदि कारक, आधार, लक्ष्य सब कुछ समझना संभव हो जाता है। इन्द्र नामक देवता को ब्रह्म नहीं समझना चाहिए।

"जन्मादि अस्य यतः" (जिससे इस जगत की उत्पत्ति हुई है)। जिस सूत्र से इस विवेचन का आरंभ हुआ उसके अनुसार ब्रह्म ही समस्त जगत, आकाश व सभी प्राण शक्तियों का कारण है। अतः 'प्राण' शब्द स्वयं ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्

"सर्वत्र उसी सर्वपरिचित तत्व की शिक्षा दी जाती है।" वेद, उपनिषदों के वाक्यों में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द का विवेचन किया जाता है। "शांत होकर ध्यान करना चाहिए" इस निर्देश में ध्यान का विषय "यह सब ब्रह्म है" द्वारा इंगित होता है, जीवी द्वारा नहीं। टीकाकारों ने इसी अर्थ को मान्यता दी।

"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म है) इसी सूत्र के साथ उपनिषद में ध्यान करने के निर्देश का आरंभ होता है। श्रुति या वेद के अनुसार जगत या सृष्टि ब्रह्म है, चूँकि यह ब्रह्म से प्रकट होती है और ब्रह्म में ही लय होती है। यह ब्रह्म से भिन्न या पृथक नहीं है।

रुचि-अरुचि, प्रेम-घृणा आदि द्वन्द्वों के बिना देखने पर सभी रूप, सभी परिणाम, सभी कारण केवल ब्रह्म के रूप में अनुभूत होते हैं। परन्तु प्रेम, घृणा, रुचि, अरुचि द्वारा प्रभावित होने पर हर रूप, हर परिणाम और कारण एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होता है। अतः यह शिक्षा दी जाती है कि शांत होने के बाद ध्यान करना चाहिए। भावनाएँ शांत और संतुलित होने पर अनेक रूप एक दिखाई देते हैं। उद्वेलित मन में एक दृष्टि संभव नहीं है। यह विपरीत दिशाओं में दौड़ता है। अतः यह जगत, प्रकृति या सृष्टि को ब्रह्म से पृथक देखता है। ऐसी दृष्टि भिन्नता उत्पन्न करती है। शांत दृष्टि एकता प्रदर्शित करती है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि अर्थात वैसी संसार की छवि।

परिवार का मुखिया एक व्यक्ति ही होता है। परन्तु उसे परिवार का हर सदस्य भिन्न दृष्टि से देखता है। अतः एक ही व्यक्ति को पुत्र द्वारा 'पिता', पत्नी द्वारा 'पति', बहू द्वारा 'श्वशुर', पौत्र द्वारा 'दादा', अनुज द्वारा 'भ्राता श्री', संबोधित किया जाता है। अनेक संबंधों के कारण एक को अनेक रूपों मे देखा जाता है। इसी प्रकार साधना के भिन्न स्तरों पर

पहँचे साधकों और चिंतकों द्वारा एक सत्ता को भिन्न-भिन्न नाम रूपों में व्यक्त और अनुभव किया जाता है।

इसके इतिरिक्त साधना और श्रद्धा-भावना में भेद से उस सत्ता के अनुभव में भी भिन्नता आ जाती है। कोई आत्मा को मानता है, कोई सर्वशक्तिमान ईश्वर को, कोई सर्वव्यापी शक्ति को, तो कोई विराट पुरुष को भजता है। परन्तु जीवी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता। क्योंकि जब तक जीवी अज्ञान और अहंकार से युक्त है तब तक वह सर्वव्यापी और सर्वसमर्थ ब्रह्म का ज्ञान व अनुभव नहीं कर सकता।

Library IIAS, Shimla
H 294.572 Sa 21 SU
00097936

मूल्य : 10 रुपये 75 पैसे